लोकसाहित्य ग्रौर संस्कृति

लोकसाहित्य और संस्कृति

•

डॉ० दिनेश्वर प्रसाद
राची विश्वविद्यालय, राची

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए महात्मा गाधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
१५ ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद १ द्वारा प्रकाशित
●
कापीराइट
दिनेश्वर प्रसाद
●
प्रथम संस्करण
१९७३
●
सुपरफाइन प्रिंटर्स
१-सी, बाई का बाग,
इलाहाबाद ३ द्वारा मुद्रित

मूल्य १०

अपने अध्यापक और गुरु

डॉ० रामखेलावन पाण्डेय,

एम० ए०, डी० लिट्०

अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग

रांची विश्वविद्यालय

को

सादर

अनुक्रम

लोकसाहित्य और सस्कृति

भूमिका

हिन्दी में लोकसाहित्य के सकलन और क्षेत्रीय अध्ययन का काय जितना हुआ है, उतना सैद्धान्तिक अध्ययन का नही। इस दिशा में बहुत थोडे-से विद्वानों ने काय किया ह जिनमें विशेष रूप में उल्लेखनीय ह—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० सत्येन्द्र और डा० कृष्णदेव उपाध्याय। लेकिन लोकसाहित्य के सैद्धान्तिक पक्ष पर किया गया काय कितना अधूरा है किन्तु कितना सम्भावनापूर्ण—इसका सकेत उपस्थित करना ही प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य है। इसके निबन्धो में एक अन्त सूत्रता विद्यमान है—वह ह अब तक मुख्यत साहित्य के अनुबन्ध में देखे गये लोकसाहित्य को सस्कृति मात्र के अनुबन्ध में देखने का प्रस्तावना। लकिन यह कहना अयुक्त नही होगा कि इसमें जिन विषयों का विवेचन हुआ है, उनकी एक वृहत्तर सायकता ह और वे साहित्य के पाठको के लिए भी उपयोगी सिद्ध होंगे।

पुस्तक क नौ निबन्धों में से तीन—'मिथ का स्वरूप', 'लोकसाहित्य में समानान्तरता और प्रसार', तथा 'आदिम नाटक'—क्रमश क ख ग (स० १५ १९६८ इलाहाबाद), दृष्टिकोण (अक्टूबर, १९६० पटना) और स्थापना (स० १, १९७० राची) में प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें केवल 'आदिम नाटक' का समावेश अविकल रूप में हुआ है। अन्य दो निबन्ध पुनर्लिखित और परिवर्द्धित ह।

उपयुक्त निबन्धों के प्रकाशन के लिए मैं क ख ग के सम्पादक डा० रघुवश तथा दृष्टिकोण के सम्पादक और स्थापना के उन्नायक श्री शिवचन्द शर्मा का आभारी हू।

प्रकाशित निबन्ध पिछले कई वर्षों के अध्ययन के परिणाम हैं। इनका लिखा जाना इसलिए सम्भव हो सका है कि मुझे प्रसिद्ध मानववैज्ञानिक शरत्चन्द्र राय (जिनकी जन्मशताब्दी दो वष पूव अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनायी गयी थी) की समृद्ध मैन इन इण्डिया लाइब्रेरी के उपयोग की सुविधा एक लम्बे समय तक उपलब्ध रही। इस सम्बन्ध में मैं मैन इन इण्डिया के व्यवस्थापक श्री निमल चन्द्र सरकार का ऋणी हूँ। यह लिखते हुए कितना दु ख होता ह कि सरकार मेरे इस आभार को ग्रहण करने से पूव ही जीवित की दुनिया की सभी औपचारिकताओं से परे जा चुके ह!

मैं वत्तमान पीढ़ी के ख्यात मानववैज्ञानिक और कमठ बौद्धिक नेता डा० ललिता प्रसाद विद्यार्थी (अध्यक्ष, मानवविज्ञान विभाग, राची विश्वविद्यालय) का बहुत आभारी हूँ जिन्हाने अपने विभागीय और निजी पुस्तकालयो से अपेक्षित पुस्तकें देकर मेरी निरन्तर सहायता की ह। उन्होने इस पुस्तक की प्रकाशन-पूव समीक्षा अपनी एन्थ्रॉपॉलाजिकल रिसर्चेज इन इण्डिया (एशिया पब्लिशिंग द्वारा प्रकाश्य) में सम्मिलित कर इसका गौरव बढाया ह।

यदि आदरणीय डा० फादर कामिल बुल्क ने पुस्तक के लेखन काय को पूण करने का निरन्तर आग्रह नही किया होता तो शायद यह रचना प्रकाश म नही आ पाती। लेकिन उनका मुझ पर इतना स्नेह और मेरे प्रति इतनी आत्मीयता रही है कि उनको धन्यवाद देकर अपने को छाटा करना नहो चाहता।

पुस्तक के सुरुचिपूण प्रकाशन के लिए मैं भाई दिनेश चन्द्र तथा लाकभारती के अन्य सभी सहयोगियो का बहुत बहुत आभारी हूँ।

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
राची विश्वविद्यालय
राची–१

दिनेश्वर प्रसाद
६ ३ १९७३

मिथ का स्वरूप

अपने महत्त्व के कारण मिथ[1] कभी लोकसाहित्य की एक स्वतंत्र विधा के रूप में प्रस्तावित हुआ है तो कभी इसकी सीमा से बाहर एक पूर्ण स्वतंत्र विषय के रूप में, किन्तु सामान्यतः कहानी और आख्यान की तरह इसे भी लोककथा का एक भेद स्वीकार किया गया है—एक वैसा भेद, जो प्राचीन काल से ही संस्कृति के अध्येताओं का ध्यान आकर्षित करता रहा है और जिसके स्वरूप की व्याख्या आज भी विवादास्पद बनी हुई है। कहानी काल्पनिक होती है और मुख्यतः मनोरंजन के लिए ही कही और सुनी जाती है, लेकिन आख्यान और मिथ सत्य माने जाते हैं। आख्यान का आधार, लोकसाहित्य के आधुनिक अध्येताओं की दृष्टि में भी, सत्य होता है। इसे विकृत इतिहास कहना इसी बात का प्रमाण है और यह इंगित करता है कि इसके मूल में कोई ऐतिहासिक घटना रहती है जो कालान्तर में अतिरंजित हो जाती है। मिथ, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, सत्य नहीं होता। यूरोपीय भाषाओं में इसका सत्य के विपरीतार्थक शब्द के रूप में भी प्रयोग होता है। किन्तु यह जिन जातियों के द्वारा कहा

---

1 प्रस्तुत निबन्ध में यूरोपीय भाषाओं में प्रचलित 'मिथ' शब्द का अविकल प्रयोग किया गया है। इसके पर्याय के रूप में डॉ० सत्येन्द्र द्वारा गढा हुआ 'धर्मगाथा' शब्द प्रचलित हो गया है। जो हिन्दी के लोकसाहित्य-सम्बन्धी शोधग्रंथों और 'हिन्दी साहित्य कोश' में देखा जा सकता है। इस समस्त शब्द के प्रथम पद 'धर्म' के विषय में मेरी आपत्ति यह है कि मिथ का धर्म से कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। मानववैज्ञानिकों ने, मानव संस्कृति के इतिहास में, जादू को धर्म का पूर्ववर्ती माना है, और मिथ जादू के युग में भी विद्यमान था, 'गाथा' शब्द से जिस गेयता का संकेत मिलता है, वह मिथ की कोई आवश्यक रूपगत विशेषता नहीं है। कभी-कभी इसके लिए 'पुराणकथा' का प्रयोग किया जाता है, किन्तु इस शब्द के द्वारा कथा की प्राचीनता और पवित्रता का संकेत भले ही मिले, इसमें मिथ के प्रसिद्ध पुराणग्रंथों की कथा होने का भ्रम उत्पन्न होता है। यह सही है कि पुराणों में मिथ हैं, लेकिन उनमें वैसी कहानियाँ भी हैं जो मिथ नहीं हैं। पिछले कुछ वर्षों से 'मिथक' का प्रयोग चल पड़ा है। 'मिथ' का विस्तार कर मिथक बनाने की बात तो और भी समझ में नहीं आती।

और सुना जाता है उसके द्वारा सत्य माना जाता है। विड्नेल यंग ने लिखा है कि 'मिथ और आख्यान विश्वास करने वाले व्यक्तियों द्वारा सत्य माने जाते हैं। हम अपने मिथों और आख्यानों का मनोरंजन के लिए गढ़ी गयी विचित्र या विश्शी यथार्थ नहीं वरन् वास्तविक घटनाओं और अभिप्रायों का विवरण मानते हैं। यह स्पष्ट है कि अग्रसकृत जातियों के मिथ और आख्यान हमारे लिए मुख्यतः इसलिए अर्थ नहीं रखते कि वे हमारी संस्कृति से बाहर पड़ते हैं।' (सोशल साय कॉलॉजी १८६)। किन्तु मिथ और आख्यान के सत्य में एक उल्लेख्य भेद है। जहाँ आख्यान का सत्य भौतिक होता है, वहाँ मिथ का सत्य आधिभौतिक। मिथ की दुनिया प्रायः हमारे आनुभविक यथार्थ के मेल में नहीं होती। इसमें अतिप्राकृत पात्रों और घटनाओं या अतिप्राकृत शक्तियों द्वारा अनुशासित प्राकृत पात्रों और घटनाओं का वर्णन मिलता है। ये पात्र और घटनाएँ विश्व की सृष्टि और इसकी विभिन्न विचित्रताओं तथा रहस्यों की व्याख्या करते हैं। इस प्रकार मिथ का प्रयोजन प्राक्-सृष्टि और सृष्टि के आरम्भिक युग की उस वास्तविकता की व्याख्या प्रस्तुत करना है जो वर्तमान के सन्दर्भ में भी अपनी सार्थकता रखती है। वस्तुतः मिथ को मिथ बनाने वाली विशेषता है, इसका काल के दो स्तरों पर एक साथ सचरण। यह अतीत में घटित होकर भी कालातीत है—यह हर क्षण अनुभूत होने वाला वह वर्तमान है जो भविष्य में भी इसी रूप में जीवित रहेगा। इसकी यह विशेषता आस्ट्रेलिया की अरुंटा जाति के अलकेरिंगा युग की कल्पना में मिलती है जो वर्तमान के समानान्तर चलने वाला अतीत है—जो अतीत होते हुए भी अशेष वर्तमान है।

मिथ और लोककहानी में पार्थक्य निर्देश करने में प्रसिद्ध मानववैज्ञानिक फ्रांज बोआज़ ने कठिनाई अनुभव की है।[१] दोनों में समान कथा वस्तु मिल जाया करती है। दोनों की सामग्री एक दूसरे में प्रवाहित होती रहती है। यदि कहा जाये कि मिथ में प्राकृतिक पदार्थों का मानवीकरण होता है तो यह एक ऐसी विशेषता है जो कहानी में भी मिलती है। पशुकथाओं में पशुओं का मानवीकरण किया जाता है, किन्तु इसके बावजूद ये कहानियाँ हैं। इसी तरह, यदि यह कहा जाये कि मिथ में प्राकृतिक विचित्रताओं की व्याख्या मिलती है और यही कहानी से इसे अलग पहचान देती है तो यह कहना भी एक गलत कसौटी प्रस्तुत करना होगा, क्योंकि कई लोककहानियाँ इस विशेषता का दावा कर सकती हैं। इसलिए 'मिथ की

---

१ बोआज़ द्वारा सम्पादित 'जेनरल एंथ्रोपॉलॉजी' में स्वयं उसका 'माइथॉलॉजी ऐण्ड फोकलोर (६०६-६२३) और 'रेस, लैंग्वेज ऐण्ड कल्चर' में 'डवलपमेण्ट ऑव फोकटेल्स ऐण्ड मिथ्स' शीर्षक लेख।

परिभाषा की अपेक्षा मिथिक धारणाओं की परिभाषा कहीं अधिक सरल है। मिथिक धारणाएँ विश्व के गठन और उत्पत्ति-सम्बन्धी आधारभूत विचार हैं। ये मिथिक प्राणियों के जीवन की घटनाओं और हमारे समकालीन, प्राय परिचित व्यक्तियों के अद्भुत कृत्यों और कष्टों से सम्बन्धित लोककहानियों में प्रविष्ट हो जाती हैं।' (जेनरल एन्थ्रापॉलॉजी ६०९)

मिथ और लोककहानी के पार्थक्य निर्देश में कठिनाई का अनुभव करते हुए भी बोआज ने इनका एक भेदक आधार दिया है। उसके अनुसार, वे कथाएँ मिथ हैं जिनमें (क) प्राकृतिक व्यापारों का मानवीकरण किया गया है और जिन्हें (ख) किसी प्रागैतिहासिक युग से सम्बद्ध कर दिया गया है। उसने लोककहानियों को आधुनिक कहानी या उपन्यास-साहित्य का समीपवर्ती माना है। इनकी उत्पत्ति दैनन्दिन अनुभव के साथ कल्पना के मुक्त विहार' से हुई है। उसने मिथ और लोककहानी में एक और भेद माना है—मिथ गम्भीरता से गृहीत होते हैं, किन्तु लोककहानियाँ मनोरंजन का विषय मानी जाती हैं।

बोआज द्वारा प्रस्तुत मिथ और कहानी के भेदक लक्षण दोनों के अन्तर को स्पष्ट नहीं कर पाते। सांस्कृतिक-मनोवैज्ञानिक सापेक्षता के आधार पर विचार न करने के कारण ही वह इस समस्या का समाधान देने में असमर्थ रहा है। वस्तुत इन दोनों का भेदक तत्त्व विश्वास है। मिथ वह कथा है जो किसी समुदाय द्वारा सत्य मानी जाती है। किन्तु सत्य की धारणा सदैव एक जैसी नहीं रहती। इसलिए जैसा कि टायलर ने कहा है, सभ्यता के सामाजिक प्रतिमान के बदल जाने पर एक युग का मिथ दूसरे युग की लोककहानी हो जाता है। इसके विपरीत यह भी सत्य है कि प्रथाओं और विश्वासों के समर्थन में प्रयुक्त होने पर लोककहानी मिथ बन जाती है।

मिथ केवल आदिम जातियों में ही नहीं, वरन् आदिम स्तर से आगे बढ़ी हुई जातियों में भी प्रचलित हैं। इसका एक कारण बहुत से मिथों का आदिम स्थिति से परवर्ती स्थितियों में प्रवाहित होना है। इनके 'अबौद्धिक' स्वरूप को देखते हुए यह विश्वास करना कठिन है कि ये किसी निकटवर्ती अतीत की उपज हैं। आधुनिक मनुष्य क्रमश बौद्धिक और संशयप्रिय होता गया है। इस धारणा के आधार पर विकासवादी चिन्तकों ने यह अनुमान किया कि ये मानव संस्कृति की एक विशेष स्थिति की ही रचना हो सकते हैं। मानवविज्ञान के पिता टायलर (ई० बी०) ने उस स्थिति को मिथसर्जक (माइथोपोइक या मिथ मेकिंग) युग कहा। उसने, और उससे प्रभावित होकर फ्रेज़र ने मानव संस्कृति मात्र के विकास को तीन युगों में विभाजित किया—जादू का युग, धर्म का युग और विज्ञान का युग। जादू के युग में मनुष्य प्रकृति की सजीवता में विश्वास करता

था और इस विश्वास ने मिथ का जन्म दिया—'इसलिए अनुभव के तथ्यों को मिथ में रूपान्तरित करने वाला सबप्रमुख कारण समस्त प्रकृति की सचेतनता है जिसका सर्वोच्च रूप है मानवीकरण।' (प्रिमिटिव कल्चर, प्रथम भाग २८५)

टायलर और फ्रेजर की तरह लेवी-ब्रूल और दुर्खीम ने भी मिथसर्जक युग की कल्पना की। अपने क्षेत्रीय कार्य के क्रम में लेवी-ब्रूल को यह अनुभव हुआ कि आदिम मनुष्य की चिन्तन-पद्धति नगर आदिम या आधुनिक मनुष्य की चिन्तन-पद्धति से सर्वथा भिन्न है। आदिम जातियां रहस्यात्मक मनोवृत्ति से आक्रान्त रहती हैं। वे अपने वातावरण के प्रति बौद्धिक दृष्टिकोण अपनाने में असमर्थ रहती हैं। उसने आदिम जातियों के इस भिन्न या विशिष्ट मनोविज्ञान को आदिम मनोवृत्ति की संज्ञा दी और यह कहा कि यह मनोवृत्ति 'प्राक्-तार्किक' है। उसकी 'आदिम मनोवृत्ति' (१६१०) नामक पुस्तक का मूल प्रतिपाद्य यह है कि प्राक्-तार्किक मनोवृत्ति एक ऐसे विश्वदर्शन का रूप लेती है जिसमें सारी सृष्टि अन्तस्थ शक्ति से अनुप्राणित प्रतीत होती है—वही अदृश्य शक्ति से जो संवेदन-ग्राह्य न होकर भी उन जातियों के लिए एक अकाट्य वास्तविकता बन जाती है। अभिव्यक्ति के धरातल पर यह मनोवृत्ति एक ओर मिथसर्जक कल्पना बन जाती है तो दूसरी ओर जादू मूलक विधि विधान। प्राक्-तार्किक या प्राक्-वैज्ञानिक युग की समाप्ति के साथ मिथसर्जक कल्पना भी समाप्त हो जाती है।

इस सम्बन्ध में जर्मन मनोवैज्ञानिक वुण्डट की स्थिति बहुत भिन्न नहीं है। उसने भी मानव जाति के सामाजिक विकास को तीन क्रमिक युगों में विभाजित किया है—टोटम युग, वीर युग और विज्ञान युग। प्रथम दो युगों का सम्बन्ध मिथसर्जक कल्पना से है। टोटम युग (गोत्र प्रतीक युग) में देवता दानव और अन्य चमत्कारपूर्ण शक्तियां के मिथ विकसित हुए तथा वीर युग में आधिभौतिक शक्तियों और जादू की सहायता से अद्भुत कृत्य करने वाले सांस्कृतिक नायकों के मिथ। विज्ञान के युग में मिथ का विकास अवरुद्ध हो गया है। आज का मनुष्य अपने पूर्ववर्ती युगों के मनुष्य से बहुत भिन्न हो गया है, क्योंकि उसने मिथिक मनोवृत्ति का अतिक्रमण किया है।

विकासवादी दृष्टि से मानव संस्कृति पर विचार करने वाले मानववैज्ञानिकों के लिए यह स्वाभाविक है कि वे उसके पूरे विकास को क्रमिक स्थितियों में विभाजित कर दें और यह कहें कि मिथ का सम्बन्ध किसी प्राक्वैज्ञानिक या प्राक्तार्किक युग से है। किन्तु ये विकासवादी विचारक ने इस धारणा को भ्रान्त माना है कि विज्ञान ने मिथ के विकास को अवरुद्ध कर दिया है। एक ओर कार्यवादी मानववैज्ञानिक मिथसर्जक युग की कल्पना को अस्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर सामाजिक मनोविज्ञान के प्रवक्ता, विज्ञान और मिथ की

विपरीतता की धारणा का खण्डन। किम्बॉल यंग ने इस बात पर बल दिया है कि मिथ मानव मनोविज्ञान की एक अनिवार्य विशेषता है। मिथ भौतिक और सामाजिक-सांस्कृतिक जगत के साथ सामंजस्य की भावनात्मक समस्याओं से उत्पन्न है। 'ये हमारी मूल्य-व्यवस्था के अंग हैं और सामाजिक नियंत्रण के साधना से सम्बन्ध रखते हैं।' (सोशल सायकोलॉजी २१०)। कुछ तार्किक व्यक्ति भले ही इनकी उपेक्षा करें और इन्हें अबौद्धिक या मानसिक विकृति मानें, किन्तु वास्तविकता यह है कि 'मिथ और आख्यान मानव समाज और संस्कृति के लिए उसी प्रकार अनिवार्य हैं, जिस प्रकार अपने उपयोगितावादी लक्ष्यों की ओर भौतिक विश्व को मोड़ने के लिए यांत्रिक आविष्कार और बौद्धिक साधनों का व्यवहार।' (वही २२०-२१)। यह सोचना असंगत है कि मनुष्य वैज्ञानिक युग में मिथ से मुक्त हो गया है। केवल मनु और श्रद्धा से मानव जाति की उत्पत्ति, मनुष्य का स्वर्ग से पतन और मरणोपरान्त आत्मा का अस्तित्व ही मिथ नहीं है, वरन सामाजिक विकास की निरन्तरता, विश्व में साम्यवाद की अवश्यम्भावी विजय और जर्मन रक्त की सर्वश्रेष्ठता भी। मूल समस्या मिथ को समाप्त करने की नहीं है, वरन यह है कि किस प्रकार सामाजिक व्यवस्था में मानव कल्याण के लिए इसकी प्रतिष्ठा और उपयोग किया जाये।

मानव समाज में मिथ का उपयोग इतना वैविध्यपूर्ण रहा है कि इसकी व्याख्या करने वाले कई सम्प्रदाय विकसित हो गये हैं। उनमें कुछ प्राचीन हैं तो कुछ आधुनिक, और अनेक अब भी विकास के क्रम में हैं। वस्तुतः इसका स्वरूप इतना जटिल है कि अब तक की गयी इसकी कोई भी व्याख्या पूरी नहीं मानी जा सकती। अभी तक कोई ऐसा सम्प्रदाय विकसित नहीं हो सका है जो इसकी विभिन्न व्याख्याओं में से किसी एक को केन्द्रीय सिद्ध कर सके या उनमें से सार्थक का उपयोग करते हुए उसकी अवगति की एक व्यापक और व्यवस्थित प्रस्तावना बना सके। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार की कोई सम्भावना उत्पन्न नहीं हुई है।

मिथ की व्याख्या करने वाले प्राकृतिक और ऐतिहासिक सम्प्रदाय सर्वथा आधुनिक नहीं हैं। यास्क (७०० ई० पू०) ने वैदिक कथाओं की व्याख्या करने वाले नरुक्त और ऐतिहासिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। नरुक्त वैदिक कथाओं को प्राकृतिक घटनाओं और आध्यात्मिक अभिप्रायों का रूपक मानते थे। वे इन्द्र को विद्युत और वृत्र को मेघ का मानवीकरण मानते थे तथा इन्द्र-वृत्र संग्राम को विद्युत और मेघ के युद्ध का रूपक। यास्क के ही आसपास एपिकारमस (६०० ई० पू०) और थियोगेनस (५०० ई० पू०) के रूपकात्मक सम्प्रदाय का विकास हुआ जिसकी मूल स्थापना यह थी कि ग्रीक देवता प्राकृतिक पदार्थों के

मानवीकरण ह । भारतीय नरुक्त और यूनानी रूपकात्मक सम्प्रदाय का नवीन रूप वह प्रकृतिवादी सम्प्रदाय है जो वर्तमान शताब्दी क आसपास जमनी में आरम्भ हुआ। इस सम्प्रदाय के विद्वानो ने यह प्रमाणित करना चाहा कि मिथ प्राकृतिक व्यापारो म आदिम मनुष्य की अतिशय रुचि का परिणाम ह । प्रत्येक मिथ अपने अन्तिम विश्लेषण में किसी न किसी प्राकृतिक व्यापार की कथात्मक अभिव्यक्ति ह । इस कथात्मक अभिव्यक्ति के आधार ह मानवीकरण और प्रतीकात्मकता । किन्तु उनम इस विषय म मतक्य नहो था कि मिथ में किस प्रकार के प्राकृतिक व्यापारो की अभिव्यक्ति होती ह । फलत इस सम्प्रदाय का विभाजन तीन शाखाओ म हो गया—चान्द्र सौर और ऋतुवादी । चान्द्र शाखा के प्रवक्ता थे एरनरारख जाके और विक्लर जो बर्लिन में १९०६ ई० म स्थापित मिथ की तुलनात्मक अध्ययन सभा के सदस्य थे । व चन्द्रमा के व्यापारो और विशषताओ को सभी मिथो का मूल मानते थे । सौर शाखा के सर्वाधिक उल्लेखनीय नाम ह फाबनिउस और मक्सम्यूलर—मुख्यत मक्सम्यूलर, जो आजीवन यही सिद्ध करता रहा कि आदिम मनुष्य के कवित्वपूर्ण मिथो का प्रेरक सूय ह ।

सच तो यह है कि मक्सम्यूलर पूरे प्रकृतिवादी सम्प्रदाय का सबसे अधिक चर्चित व्यक्ति था । उसन १८५६ ई० में प्रकाशित अपने मिथ सम्बन्धी काय द्वारा समस्त यूरोप के बुद्धिवादियो को आन्दोलित कर दिया । उसन यह कहा कि प्राचीन आय जाति के मिथ प्रकाश और अधकार के सघष और अधकार पर प्रकाश की विजय के चिरन्तन विश्वनाटक की कथात्मक अभिव्यक्तियाँ ह । उसकी मान्यता यह थी कि सभी मिथो का आधार सूय ह । आज अपने मत के सम्बन्ध में उसका आग्रह और अनन्यता आलोच्य प्रतीत होते हैं किन्तु यह मानना होगा कि उसने मिथ की अन्तवस्तु की परीक्षा क सम्बन्ध मे पर्याप्त विचारोत्तजक प्रस्तावना दी । उसकी मान्यताओ क सम्बन्ध में अशेष समथन और तीव्र विरोध की परस्पर विपरीत स्थितियो को उसक द्वारा उत्पन्न वचारिक उत्तजना के आधार पर ही समझा जा सकता ह । अपन जीवनकाल में उसे सबस अधिक विरोध एंड्र लग और उसक सहयोगियो का मिला । एंड्र लग के साथ उसका लम्बा वाद विवाद अब इतिहास की वस्तु हो गया ह—अब वह बहुत सार्थक प्रतीत नहीं होता किन्तु वह जब तक चलता रहा तब तक पूरे यूरोप की अभिरुचि का विषय बना रहा ।

मक्सम्यूलर न भी मिथकात्मक युग की कल्पना को स्वीकार किया और यह कहा कि सूय व कृत्यो को देवताओ की कथा के रूप में अभिव्यक्त करने वाला यह युग भाषा में विश्लषण और अमूतन क विकास का पूववर्ती था । अभिप्रेत सकल्पनाओ की अभिव्यक्ति म कठिनाई होन क कारण भाषा में दो भिन्न प्रक्रियाएँ विकसित हुई—य ह अनकार्थता और समार्थता । पहली प्रक्रिया का उप

हरण एक ही शब्द 'द्यु' द्वारा आकाश, सूर्य, वायु, प्रभात आदि अनेक अर्थों का द्योतन है, और दूसरी प्रक्रिया का, अनेक भिन्न शब्द समुदायों द्वारा एक ही अर्थ—सूर्य—की अभिव्यक्ति। इस आधार पर यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि क्या एक ही धातु 'दिव्' दिन, प्रकाश आदि अनेक अर्थ व्यक्त करता है और इस विशेषता से युक्त संज्ञा शब्द अनेक वस्तुओं के लिए विपर्यित किये जा सकते हैं। आदिम भाषा की इस प्रवृत्ति की जानकारी हो जाने के बाद यह समझना आसान हो जाता है कि क्यों वैदिक भाषा में बादलों को पर्वत, प्रकाश को तीर और किरणों को उँगलियाँ कहा गया है। इस रूप में विश्लेषण करने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सभी मिथों की मूल भूमि एक है—यह है सूर्य के महान कृत्यों का वर्णन। यह बात केवल आर्य जाति के मिथों के विषय में ही नहीं, वरन् दुनिया भर की सभी जातियों के मिथों के विषय में सत्य है। सर्वत्र भाषिक समीकरणों और अर्थ के आरोप की यादृच्छिक पद्धति का अवलंबन लेने के कारण मैक्सम्यूलर का यह प्रमाणित करने में कठिनाई नहीं हुई कि अल्गोनक्वियन मिकाबो (महाशशक) प्रकाश का देवता है और हात्तेनतोत त्सुइ-गोआब (भग-जानु) उगता हुआ सूर्य। उसने यह भी कहा कि आख्यानों और लोक कहानियों की व्याख्या भी इस पद्धति से की जा सकती है, क्योंकि ये मिथ के ही विकृत या परिवर्तित रूप हैं।

मैक्सम्यूलर के सौरवाद के व्यापक प्रभाव का अनुमान कुछ अन्य उदाहरणों द्वारा लगाया जा सकता है। उससे प्रेरित होकर ब्रील ने 'मिथशास्त्र और भाषा विज्ञान का मिश्रण' (१८७७) और कोन्सतास ने 'ओडीपस का आख्यान' (१८८०) में ओडीपस की प्रसिद्ध कहानी की सौरवादी व्याख्या प्रस्तुत की। ब्रील ने ओडीपस को प्रकाश का मानवीकरण माना और उसके अन्धत्व को सूर्यास्त। इस कहानी की मुख्य घटना स्फिक्स—आंधी के बादल—से संघर्ष है। कोन्सतास ने भी ओडीपस को सूर्य माना और यह कहा कि इस कहानी का नीतिवादी स्वरूप परवर्ती है। लेकिन इन दोनों से पूर्व मैक्सम्यूलर के सबसे बड़े अनुयायी विलियम जार्ज कॉक्स (१८७०) ने इस कहानी की विस्तृत सौरवादी व्याख्या प्रस्तुत की थी और यह अनुमान असंगत नहीं होगा कि इन्होंने कॉक्स के सवेता का उपयोग किया था। कॉक्स के अनुसार, जोकास्टा आकाश है जिससे सूर्य (ओडीपस) का जन्म होता है। उसका जिस स्फिक्स से संघर्ष होता है, वह सूखे का बादल है। स्फिक्स को अपदस्थ करने के बाद सूर्य (ओडीपस) पुनः आकाश (जोकास्टा) में मिल जाता है—उससे विवाह कर लेता है। सूर्यास्त ही ओडीपस का अन्धत्व है और एण्टीगोनी वह कोमल प्रकाश है जो सूर्यास्त के समय पूर्व आकाश में दिखायी पड़ने लग जाता है।

सौरवादियों को दो कोनों से चुनौतियों का सामना करना पड़ा।

पहला कोना ऋतुवादियों का था जो चान्द्र और सौर, दोनों शाखाओं को एकांगी मानते थे और यह कहते थे कि मिथ का आधार समस्त प्रकृति है। फिर भी प्राकृतिक पदार्थों में इस दृष्टि से किसे प्राथमिक माना जाये और किसे गौण—यह प्रश्न उनके लिए भी कम महत्व नहीं रखता था। आडालबेट कून आँधी के बादल को अधिक महत्वपूर्ण मानता था किन्तु श्वार्टस वायु और प्लर आकाश के बदलते हुए रंगों को। अपने 'भाषा विज्ञान पर भाषण' (द्वितीय संस्करण ५३८ ४०) में मैक्सम्यूलर ने ऋतुवादियों की चर्चा की है। उसने जैसे अपने को संशोधित करते हुए यह कहा कि कुछ मिथ सूर्य से भिन्न प्राकृतिक पदार्थों और व्यापारों पर भी आधारित हैं। लेकिन उसके अनुयायी कॉक्स ने 'द माइथालॉजी आव द एरियन नेशन्स' (द्वितीय संस्करण १८८२) की भूमिका में यह लिखा कि उसकी रचना में, सूर्य या चन्द्र जैसी दो एक वस्तुओं को नहीं वरन् आदिम मनुष्य को प्रभावित करने वाली इन्द्रियग्राह्य जगत की समस्त घटनावली' (v) को व्यक्त करने वाले मिथों का उल्लेख है। इससे यह संकेत मिलता है कि आगे चल कर कॉक्स केवल सूर्यवादी नहीं रह गया, बल्कि वह विशुद्ध प्रकृतिवादी हो गया। इसी पुस्तक के दूसरे खण्ड में उसने अलग अलग अध्यायों में आकाश प्रभात, अग्नि वायु, विद्युत सूर्य चन्द्र मेघ आदि पर आधारित मिथों पर विचार किया है। यह निश्चित रूप में मैक्सम्यूलर द्वारा प्रस्तावित दृष्टिकोण से उसकी भिन्नता को सूचित करता है। फिर भी यह सच है कि सामान्य रूप में उसकी पद्धति मैक्सम्यूलर पर आधारित है क्योंकि वह भी व्युत्पत्तिवाद का ही उपयोग करता है।

दूसरा कोना सांस्कृतिक विकासवाद का था जिसके प्रवक्ताओं से सौरवादियों का विवाद कई दशकों तक चलता रहा। स्वयं ई० बी० टायलर ने इसमें प्रत्यक्ष रूप में कोई भाग नहीं लिया, लेकिन उसने 'प्रिमिटिव कल्चर' (प्रथम खण्ड) में सौरवादियों के अतिवाद पर बहुत तीखा व्यंग्य किया। उसने उनका मज़ाक उड़ाते हुए अंग्रेजी से एक लोकप्रिय गीत 'द सांग आव सिक्सपेन्स' की एक व्याख्या प्रस्तुत की जो इस सम्बन्ध में उसकी स्थिति को निर्भ्रान्त रूप में स्पष्ट कर देती है। उसने कहा कि यदि सौरवादियों से इस गीत का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए कहा जाये तो वे यह कहेंगे कि इसके चौबीस काल पक्षी चौबीस घंटे हैं वह मटर, जिसमें वे पक्षी बन्द हैं अन्धकार से ढका हुआ आकाश है। मटर के खुलने पर पक्षियों के निकलने का अर्थ है सूर्य के प्रकाशित होते ही पक्षियों का कलरव करने लगना। गीत में चर्चित रानी चाँद है और लाल उँगलियों वाली दाई सुबह। इसका अर्थ यह नहीं कि मिथ की प्रकृतिवादी व्याख्या गलत है, वरन्

है कि हर मिथ की प्रकृतिवादी व्याख्या हास्यास्पद है। टायलर से प्रभावित एण्ड्रयू लैंग की भी प्रमुख आपत्ति यही थी कि मैक्सम्यूलर का सिद्धान्त यादृच्छिक है। उसने मिथों को पूववर्ती धारणाओं और विश्वासों के अवशेष के रूप में देखना अधिक संगत माना और यह कहा कि इनकी विश्वव्यापी समानता मानव मनोविज्ञान की एकता का प्रमाण है। यह एकता इतनी स्पष्ट है कि इसके लिए किसी चक्करदार भाषिक सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है।

प्रकृतिवाद की आलोचना अन्य कई व्यक्तियों ने की। आदिम संस्कृतियों के प्रत्यक्ष अध्ययन के आधार पर विचार करने पर मलिनोव्स्की को इसकी बुनियादी धारणा ही आपत्तिजनक प्रतीत हुई। उसके अनुसार 'प्रकृति में आदिम मनुष्य की विशुद्ध कलात्मक अभिरुचि बहुत सीमित है उसके विचारों में और कथाओं में प्रतीकात्मकता का अवकाश बहुत कम है, और वस्तुतः मिथ न तो अकर्मण्य भावोद्गार है, न व्यर्थ की कल्पना की निरुद्देश्य अभिव्यक्ति, वरन् (यह) एक ठोस एवं महत्त्वपूर्ण सामाजिक वास्तविकता (है)।' (द फ्रेज़र लेक्चर्स ६९)

मानवविज्ञान के ऐतिहासिक या विकासवादी सम्प्रदाय के विरुद्ध अपने द्वारा प्रस्तावित कार्यवादी दृष्टिकोण पर आवश्यकता से अधिक बल देने के कारण ही मलिनोव्स्की ने मिथ की प्रकृतिवादी व्याख्या का निषेध किया। यह सही है कि प्रकृति के प्रति आदिम मनुष्य का दृष्टिकोण मुख्यतः व्यावहारिक है और मिथ की ठोस सामाजिक उपयोगिता है, लेकिन यह कहना सच नहीं है कि आदिम मनुष्य के विचारों और कथाओं में प्रतीकात्मकता का अवकाश बहुत कम है। आदिम मनोविज्ञान के एक समकालीन अध्येता रेडफील्ड ने अपने क्षेत्रीय अनुभवों के आधार पर इसकी कुछ विशेषताओं का निर्देश किया है। आदिम मनुष्य वस्तु और व्यक्ति में भेद नहीं कर पाता तथा मानव और मानवेतर जगत के बीच पारस्परिक सहभाग की कल्पना करता है। बाल मनोविज्ञान के विशेषज्ञ पियाजे ने बालकों के सन्दर्भ में इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख किया है। बालक अपने को शेष जगत से पृथक करके नहीं देख पाता—वह विचार और विचार की वस्तु में अभेद मानता है। उसके मनोविज्ञान की दो और विचारणीय विशेषताएँ हैं—जडात्मवाद और कृत्रिमतावाद। जड वस्तु को चेतना से सम्पन्न मानना जडात्मवाद है और वस्तुओं को स्वयं सर्जनात्मक शक्ति से युक्त मानने की अपेक्षा उन्हें अपनी (मानसिक) सृष्टि मानना कृत्रिमतावाद। रूपकीकरण प्रतीकीकरण की मानवीकरण की प्रक्रियाओं के साथ इन प्रवृत्तियों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज से कुछ समय पहले तक मानववैज्ञानिक आदिम मनुष्य के और बालक के मनोविज्ञानों में एक प्रकार की समानान्तरता की कल्पना करते थे। टायलर ने तो आदिम मनुष्य को एक प्रकार का बालक ही बना दिया है। (प्रिमिटिव कल्चर

२८५)। वस्तुत इस समानान्तरता को रेक्सीन्ड या टायलर की तरह बहुत दूर तक घसीटे बिना भी यह कहा जा सकता है कि प्रतीकीकरण आदिम मनुष्य—वस्तुत मनुष्य-मात्र—के मनोविज्ञान की एक व्यापक विशेषता है। बहुत सी मिथों म तो प्राकृतिक व्यापारों का मानवीकरण या प्रतीकीकरण इतना प्रत्यक्ष है कि उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता—

　　उसने (इन्द्र ने) पर्वत पर लेटे हुए अहि (वृत्र) का वध किया।
　　उसके लिए त्वष्टा ने चमकने वाले विद्युत की रचना की,
　　और रंभाती हुई गौओं की तरह अपनी तीव्रगामी धारा के साथ,
　　नदियाँ समुद्र की ओर बह चलीं। (ऋ १ ३२ २)

सरमा का, पणियों द्वारा गुफाओं में छिपायी गयी गायों का अन्वेषण बादलों में बन्दी किरणों के अन्वेषण का अभिप्राय रखता है ऐसा ऋग्वेद के अनेक मंत्रों से ध्वनित होता है— हे इन्द्र! जब जल के लिए तुमने बादलों को फाड़ डाला तुम्हारे सामने (गौओं का सन्देश लेकर) सरमा प्रकट हुई।' जब अंगिरसों ने उषा के आगमन के समय (खोजी हुई) गायों को देखा।'

यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के उदाहरणों में प्रतीकात्मकता की स्थिति बहुत विवादास्पद है लेकिन क्या यही बात उन उदाहरणों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है जिनमें यह प्रतीकात्मकता विशुद्ध अभिधात्मक धरातल पर है? क्या—उदाहरण के लिए—बहुत से देशों में पृथ्वी और आकाश (स्वर्ग) का क्रमश माता और पिता के रूप में प्रतीकीकरण नहीं किया गया है? माओरी सृष्टि-कथा में यह कहा गया है कि रागी (स्वर्ग) और पापा (पृथ्वी) से संसार के सभी जीवों की उत्पत्ति हुई। वेदों में द्योस्पितर और पृथ्वीमातर की कल्पना मिलती है और ग्रीस में ज्यूस और देमेतर की। भारत में यह कथा प्रसिद्ध है कि ग्रहण राहु-केतु की छाया है। दक्षिण अमेरिका के चिक्विटोस ग्रहण को काले कुत्तों का वह दल मानते थे जो अचानक चाँद को पकड़ लेता है और उसे लहूलुहान करने लग जाता है। वे इन कुत्तों को मार भगाने के लिए तीर छोड़ने लगते थे।

इस प्रकार के प्रमाणों के उपलब्ध रहने पर यह नहीं कहा जा सकता कि मिथ की प्रकृतिवादी व्याख्या का कोई औचित्य नहीं है। यदि इस सम्प्रदाय की कोई सीमा है तो यही कि यह मिथ मात्र की प्रकृतिवादी व्याख्या का आग्रही है जब कि वस्तुस्थिति इससे भिन्न है।

पूर्वोक्त ऐतिहासिक सम्प्रदाय मिथ को अतीत की वास्तविक घटना मानता है। यास्क ने नैरुक्तों से ऐतिहासिकों का भेद बतलाते हुए यह कहा है कि जहाँ नैरुक्त वृत्र को मेघ मानते हैं, वहाँ ऐतिहासिक उसे त्वाष्ट्र नामक असुर—वाले वृत्र

मेघ इति नरुक्ता त्वाष्ट्रासुर इत्यैतिहासिका । ग्रीस में यूहेमेरिस्ट सम्प्रदाय के प्रवनक यूहेमेरस (३०० ई० पू०) ने भी यही सिद्ध करने का प्रयास किया कि यूनानी मिथ ऐतिहासिक तथ्यो के अतिरजित रूप है और यूनानी देवता, प्राचीन राजाओ के रूपान्तर। आधुनिक 'ऐतिहासिक सम्प्रदाय' का विकास मुख्यत जर्मनी और अमरीका में हुआ। ब्रिटेन में इसके प्रतिनिधि डा० रीवस थे जिन्होने मिथो और आख्यानो के आधार पर 'मलेनेसियन समाज का इतिहास' लिखा।

मिथो की इतिहासपरक व्याख्या और उनमें व्यक्त ऐतिहासिक सामग्री के स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतभेद रहा है। एक ओर लोवी इस बात का आग्रह करता है कि आदिम जातियो में इतिहास-बोध नही होता और उनकी मौखिक परम्पराओ का अपने आपमें कोई ऐतिहासिक मूल्य नही है तो दूसरी ओर सपीर की यह धारणा है कि उनमें (मौखिक परम्पराओ) में 'इतिहास का स्वर' रहता है। इसी प्रकार एच० यू० वायर की मान्यता यह है कि मिथो में ऐतिहासिक सामग्री मिलती है। उसने योरुबा मिथों के आधार पर यह अनुमान व्यक्त किया है कि यह जाति पहले मातृ प्रधान थी और जीवन-यापन के लिए कृषि का उपयोग नही करती थी।

वस्तुत ऐतिहासिक सम्प्रदाय भी प्रकृतिवादी सम्प्रदाय की तरह ही एक आशिक सत्य को अतिरजित कर उसे एकमात्र सत्य के रूप में प्रस्तावित करता है। आदिम मनुष्य में न तो प्राकृतिक व्यापारो में अभिरुचि का अभाव है और न अतीत के प्रति उपेक्षा ही। यदि प्रकृतिपरक मिथ है तो वैसे मिथ भी है जिनका मूल ऐतिहासिक हो सकता है। किन्तु यह कहना कि मिथ मात्र ऐतिहासिक तथ्यो के अतिरजित रूप है, एक आपत्तिजनक मान्यता है। प्रकृति और अतीत, दोनो में आदिम मनुष्य की अभिरुचि अधिकाशत (सर्वांशत नही) अपने समाज की व्यावहारिक समस्याओ द्वारा उत्पन्न और निर्धारित हुआ करती है। उसमें विशुद्ध इतिहासकार की दृष्टि का अन्वेषण निरर्थक है। फिर भी इस सम्बन्ध में कार्यवादियो की सीमा तक जाने की आवश्यकता नही है। अधिकतर कार्यवादी मिथ की व्याख्या सामाजिक सगठन में इसके कार्य या उपयोगिता के आधार पर करते है और यह मानते है कि इसकी सामग्री जाति विशेष के जीवन में इसके इसी उपयोग के द्वारा निर्णीत होती है। वे मिथ को सामाजिक व्यवस्था के सरक्षण और दृढीकरण का माध्यम मानते है और यह स्वीकार नही करते कि इसका कोई इतिहासगत मूल्य भी हो सकता है। यह सही है कि लिखित इतिहास और पुरातत्त्व की तरह मिथ की सामग्री 'ठोस' न होकर 'कोमल' है किन्तु आवश्यक परीक्षा के बाद इस 'कोमल' सामग्री के आधार पर जाति विशेष के सास्कृतिक इतिहास का पुनर्निर्माण सम्भव है। हसकोवित्स, फुलर

और मानसिकता के साथ इस विषय में भाषा नहीं तो निश्चितनिर्णायक महत्त्व तो रखते ही हैं।

एक सिद्धान्त यह भी है कि मिथ की उत्पत्ति भाषा से होती है। कभी स्पन्सर ने यह कहा था कि प्रकृति-पूजा का रहस्य प्राकृतिक वस्तुओं (सूर्य, चन्द्र आदि) के नामों की भ्रान्त व्याख्या में सन्निहित है। संस्कृत तथा अन्य भारोपीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा मैक्समूलर भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा। वस्तुतः उसका प्रकृतिवाद (या सौरवाद) मिथ के इसी दृष्टि से किये गये, भाषिक विश्लेषण पर आधारित है।

मैक्समूलर की यह धारणा थी कि मिथ न तो इतिहास का रूपान्तर है और न इतिहास के रूप में स्वीकृत नीतिदर्शन। यह भाषा की प्रकृति में सन्निहित दुर्बलता या विकृति का परिणाम है। भाषा के निर्देश अस्पष्ट हुआ करते हैं और 'जब तक भाषा विचार के समरूप नहीं हो जाती, जो कि वह कभी नहीं हो सकती" (धर्मशास्त्र का परिचय (१८७३) ३५३) तब तक वह इस अस्पष्टता से मुक्त नहीं हो सकती। भाषा की यही अस्पष्टता मिथों को जन्म देती है। ड्यूकेलियन और पाइरहा की कथा में यह कहा गया है कि उन्होंने प्रलय की समाप्ति के बाद पत्थर फेंके जिनसे मनुष्य जाति की उत्पत्ति हुई। इस बात की विचित्रता तब समाप्त हो जाती है जब हम यह जान जाते हैं कि ग्रीक भाषा में पत्थर और मनुष्य समान या श्रुतिसम शब्दों द्वारा द्योतित किये जाते हैं।

आरम्भिक काल में मनुष्य विश्व की प्रत्येक वस्तु को अपने जैसा ही सचेतन मानता था। उस काल में उसकी भाषा में जो शब्द निर्मित हुए वे हर वस्तु को जीवित वास्तविकता के रूप में प्रस्तुत करते थे। कावस के अनुसार "(उस समय) प्रत्येक शब्द सवाक चित्र था। (१८८२ २१)" मनुष्य के रूप में सृष्टि के विविध नामरूपों की इस अवगति ने प्रथम मिथों को जन्म दिया। कभी 'एण्डीमियन सो रहा है' में एण्डीमियन डूबते हुए सूर्य का वाचक था और इस उक्ति का अर्थ केवल यही था कि सूर्य डूब गया है। किन्तु एण्डीमियन शब्द के अभिप्राय के अस्पष्ट होते ही इस नाम के व्यक्ति की कल्पना अनिवार्य हो गयी होगी। यदि प्राचीन भाषा के शब्दों का सावधानी से विश्लेषण किया जाये तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि शब्द पहले अपने मूल या व्युत्पत्तिक अर्थ में प्रयुक्त होते थे। पहले जब यह कहा जाता था कि 'सूर्य उषा को प्यार करता है' तो यह आदिम मानस द्वारा सूर्य के उगने के साक्षात्कार की अभिव्यक्ति मात्र था। प्राचीन भारोपीय भाषा—और भाषा मात्र—में एक वस्तु के लिए अनेक शब्द प्रचलित थे। वे शब्द उस वस्तु के विविध गुणों के द्योतक थे। पृथ्वी उर्वी

(विस्तत) भी थी, मही (वडी) भी और धरा (धारण करने वाली) भी। सूय ही सविता था, मित्र भी और पूपा भी। इसी प्रकार, एक वस्तु को द्योतित करने वाला शब्द दूसरी वस्तु को भी द्योतित करता था, क्योकि एक वस्तु में पाया जाने वाला गुण दूसरी वस्तु म भी मिल सकता है। यही कारण है कि वैदिक भाषा में उर्वी का नदी भी हो जाता ह और मही का प्रयोग गो और वाणी के लिए भी होता है। शब्दा द्वारा व्यक्त ये द्विविध सम्ब ध, उनके धात्वथ के विस्मृत हा जाने पर भी, दनदिन व्यवहार में बने रह गये और इनका युक्तीकरण आवश्यक हो गया। एकाथक शब्दा के अथ विच्छेद के बाद उनके पारस्परिक सम्ब ध की व्याख्या के रूप में यह कहा जाने लगा कि वे—वस्तुत उनके द्वारा मानवीकृत वस्तुएँ—एक दूसरे के पिता-पुत्र, भाई-बहन इत्यादि ह। अनेकाथक शब्दो की भी नयी व्याख्या की जाने लगी। सूय के करा (किरणों) से यह कथा विकसित हुई कि सूय के हाथ ह, और ऋग्वेद में यह कहा गया कि 'जब सूय का एक हाथ खो गया तो सान का दूसरा हाथ जोड दिया गया।' (१ २२ ५) इस प्रकार विश्लेपण करने पर इस बात में कोई सन्देह नही रह जाता कि धात्वथ से विच्छिन्न शब्दो द्वारा अर्जित नये अर्थों की सगति की व्याख्या एक अनिवायता बन जाती है। यही वह प्रक्रिया ह जो पुरुरवा को राजा बना देती ह और उवशी को अप्सरा। धात्वथ की दष्टि से पुरूरवा बहुत (पुरू) रव करने वाला अर्थात सूय है। (रू धातु का प्रयोग रजित करने के अथ म भी होता है और यह अथ रवि, रुधिर आदि शब्दा में विद्यमान हैं।) पुरूरवा अपने को वसिष्ठ कहता है और वसिष्ठ सूय का ही नाम ह। उवशी उपादेवी हैं। पुरूरवा उवशी सम्वाद में उवशी का यह रूप व्यक्त या इगित हो जाता ह? 'मैं पहली उषा की तरह चली गयी हूँ, मैं वायु की तरह दुर्ग्राह्य हूँ।''

मिथ का यह भाषिक—वस्तुत व्युत्पत्तिवादी—सम्प्रदाय बहुत लोकप्रिय हुआ। तुलनात्मक भाषावैज्ञानिको ने इसकी अध्ययन विधि का उपयोग कर प्राचीन कथाओं के मूल स्वरूप की पहचान का दावा किया। उस युग के लोकसाहित्य के विशेपज्ञा में एक समुदाय ने भी इसका समथन किया। सर जाज काक्स ने मक्सम्यूलर के व्युत्पत्तिवाद को स्वीकार करने के बावजूद यह नही माना कि मिथ भाषा की विकृति (या रोग) है। उसने इसको स्मृतिभ्रश (फेल्योर ऑव मेमरी) या विस्मरण कहना अधिक उचित माना। इस विस्मरण के लिए किसी प्रकार का पछतावा बेकार है क्योकि इसने असख्य नये आख्याना और महान् महाकाव्यो को जन्म दिया ह (१८८२ २३)। जसे, कभी सप्तऋषि के नाम से सात सात तारे सप्त ऋक्ष कहे जाते थे। ऋक्ष का धात्वथ 'दीप्तिवन्त' रहा होगा—ऐसा ग्रीक अक्तोस और उर्सा से इस शब्द की तुलना करने पर कहा जा सकता

है। इस धातु का सम्बन्ध भानु से भी है। इसी तरह एक तारा सीरियस (तारा) यूनानी दन्तकथाओं में तारा सायरस (अग्नि दीपक) के नाम से प्रसिद्ध हुआ और भारतीय कथाओं में तारा श्वान तारा आदि बन गये। बाद में इस शब्द के परिवर्तन से न जाने कितनी सम्बन्धी कितनी कथाओं का जन्म लिया।

परिवर्तन भाषा का स्वभाव है—चाहे वह शब्दों का हो या अर्थ का। इसलिए मिथ की रचना के प्रसंग में भाषा की विकृति की अपेक्षा स्मृतिभ्रंश या विस्मरण का प्रयोग कहीं अधिक स्पष्ट और सरल है। यह सही नहीं है कि सभी मिथों का जन्म भाषिक परिवर्तनों से ही होता है लेकिन यह कहना भी गलत नहीं कि बहुत-से मिथ केवल भाषागत विस्मरण, शब्दों के रूप-परिवर्तन और किन्हीं शब्दों के ध्वनिसाम्य के कारण ही विकसित होते हैं। कुछ मिथों का जन्म केवल स्थानों और व्यक्ति-नामों के मूर्तीकरण के रूप में ही होता है। अतः यह कहना कठिन है कि शकुन्तला के पुत्र भरत से साथ भारत देश का कोई ऐतिहासिक सम्बन्ध है। बहुत सम्भव है कि भारत और भरत का सम्बन्ध इन दो शब्दों के मात्र ध्वनि-साम्य पर आधारित हो। यह बात किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती कि यूरोपा और रामुलस की कथाएँ यूरोप और रोम-जैसे नामों के मूर्तीकरण के क्रम में ही विकसित हुई हैं। प्राय: यह देखा गया है कि जिन पवित्र स्थानों का नामकरण सीता या राम के आधार पर हुआ है उनके साथ आगे चलकर सीता और राम से सम्बन्ध रखने वाली कथाएँ जुड़ गयी हैं। इसी तरह, महिष शब्द का ध्वनि-परिवर्तन (महर्षि) इस बात का उदाहरण है कि शब्द के रूप के बदल जाने पर एक नितान्त नयी कथामाला का जन्म हो सकता है।

मैक्सम्यूलर के व्युत्पत्तिवाद की सीमा सत्य के एक छोटे-से भाग को सत्य मात्र का स्थानापन्न बना देना है। इसकी दूसरी सीमा का संकेत डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपनी भाषा और संवेदना (९२-९६ १९६४) में किया है। मैक्सम्यूलर की एक स्थापना यह भी है कि मिथ के व्यक्तिवाची नाम कुछ काल बाद भाषा के सामान्य शब्दों में बदल जाते हैं, जैसे, 'पेनिक' शब्द वन देवता पेन से विकसित हुआ है। लेकिन हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में इस प्रकार के व्यक्तिवाची शब्दों के जातिवाचक और भाववाचक संज्ञापदों और क्रियाओं में पर्यवसित हो जाने के उदाहरण बहुत कम हैं। इसलिए 'भाषा मात्र के सम्बन्ध में पुराण-कथा के अनिवार्य स्रोत का सिद्धान्त प्रतिपादित करना संगत नहीं है।' (वही ९६)

वस्तुतः भाषा और मिथ के पारस्परिक सम्बन्धों की परीक्षा के लिए थोड़े से भाषिक परिवर्तनों और गिने चुने शब्दों को आधार बनाना उचित नहीं है।

किन्ही गहरे—मानसिक—आधारो पर इनके सम्बन्धो की खोज का प्रयत्न इसमे कही अधिक सार्थक है। लेकिन मानव-व्यवहार में प्रतीकात्मकता के महत्व के उद्घाटन के बाद ही इन पर इस रूप में विचार करना सम्भव हो सका है।

मनोविश्लेषण के विकास के बाद मिथ पर विचार करने की दृष्टि भी बदल जाती है। मनोविश्लेषक और मनोवैज्ञानिक-सांस्कृतिक विचारक इसे मनुष्य के अवचेतन से सम्बन्धित कर देखने की प्रस्तावना करते है और इसका इसकी अवगति पर बडा दूरगामी प्रभाव पडता है। उनके अनुसार यह एक प्रकार का दिवास्वप्न है। फ्राज बोआज की मिथ-सम्बन्धी अनेक धारणाएँ इस मान्यता के बहुत समीप है। वह यह कहता है कि मिथ सवेदनाजन्य अनुभवो की कल्पना द्वारा की गयी, पुनरचना मात्र है और इस प्रकार, यह उनका सशोधित या अतिरजित रूप है। किसी इच्छा के उत्पन्न होते ही हमारी कल्पना उसके अनुकूल रूप खडा कर देती है। यदि कोई घटना हमें आश्चर्यचकित करती है तो हमारी कल्पना में उसके आश्चर्य-तत्वो का परिवर्द्धन हो जाता है। यदि हमारे किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो हमारी कल्पना उसे पुनर्जीवित कर देती है। अभिप्राय यह कि इस प्रकार की सभी परिस्थितियो में 'वास्तविक' अनुभव या तो अतिरजित हो जा सकता है या अपने से एकदम विपरीत पडने वाला रूप ग्रहण कर सकता है, और असम्भव की उपलब्धि हो जा सकती है।

फ्रायड और युग, दोनों ने मिथ, आख्यान लोककहानी आदि पर अपने अपने ढग से विचार किया है। दोनों के मिथ-सम्बन्धी निष्कर्षो में महत्वपूर्ण भेद है। किन्तु दोनों इस बात पर एकमत है कि यह मानस की अवचेतन प्रक्रियाओं को समझने का महत्त्वपूर्ण साधन है। अवचेतन की एक विशेषता है प्रतीकात्मकता जिसका मनोविश्लेषण में एक विशिष्ट, सीमित अर्थ है। यह वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई धारणा या प्रक्रिया अवचेतन में दमित उसी वस्तु (अर्थात धारणा या प्रक्रिया) का प्रतिनिधित्व करती है। प्रतीको की सख्या अनन्त हो सकती है, किन्तु प्रतीकित धारणाओ की सख्या बहुत परिमित है। फ्रायड के अनुसार प्रतीकित धारणाएँ स्थूल और मूर्त हैं और उनमें यौन भावना का महत्व सर्वाधिक—वस्तुत केन्द्रीय है। स्वप्न और मिथ, जिनकी आधारभूत प्रक्रिया प्रतीकीकरण है, समान रूप में परागामी है तथा वे व्यक्ति और जाति के मनोवैज्ञानिक इतिहास को समझने में पर्याप्त सहायक है। फ्रायड ने 'टाटम ऐण्ड टैबू' में ओडीपस की प्रसिद्ध कथा की व्याख्या इस प्रकार की है आदिम मनुष्य पहले कबीले में रहता था। ईर्ष्यालु पिता अपने तरुण पुत्रो को भगा दिया करता था तथा सभी स्त्रियो को अपने अधीन रखता था। सभी भगाये हुए भाइयो ने मिल कर पिता से प्रतिशोध लेने का निर्णय किया। वे उसे मार कर खा गये।

और शरीर (देह) का मेल इस प्रथम अलगाव का समारोह है जिससे नैतिक चेतना का प्रारम्भ होता है। इस ओर प्रतीकात्मक रूप से शिशु का जन्म होता है। ये हैं योन शरीर की परिकथा और मनगोर विवाह।

फ्रायड द्वारा की गयी मातृ-रति (ईडिपस) ग्रंथि की यह व्याख्या उसी अनुयायियों द्वारा भी स्वीकृत हुई है किन्तु वे मिथ और आर्केटाइप, दोनों की प्रकृति के सम्बन्ध में उनके उनके विचारों से पूर्णतः सहमत हैं। वे मिथ की रचना के मूल में आदिम जननिक अनुभवों और ओडीपस ग्रंथि की प्रतिष्ठा करते हैं। ओडीपस-ग्रंथि का आधार मनोवैज्ञानिक है, इसलिए यह समस्त मानवजाति की मानसिक ग्रंथियों की व्याख्या करने में समर्थ है।[1] ईडन के उद्यान और हौवा की कथा को मानवता के शैशव का वर्णन माना है। उस शैशव में निश्चिन्तता, नग्नता और स्वच्छन्दता का राज्य था। उसमें योन भावना का प्रवेश हुआ और उसके साथ ही सारी परिस्थिति बदल गयी। दूसरे शब्दों में, शैशव में प्रत्येक मानव स्वर्ग में रहता है लेकिन योन भावना के परिज्ञान के बाद अर्थात् वयस्कता के आरम्भ होते ही वह स्वर्ग से बहिष्कृत हो जाता है। (वनिक प्रिंसिपुल्स ऑव साइकोएनेलिसिस (१९५० ६३)। सर अर्नेस्ट जोन्स ने अवचेतन के आमंत्रण की योन भावना-परक व्याख्या अपने कान द्वारा मडोना का गर्भाधान शीर्षक निबन्ध में की है जो उनके 'एसेज इन अप्लायड साइकोएनेलिसिस' (पृ० २६६ ३५७) में संकलित है। जिस प्रकार भारत में कुन्ती के कान द्वारा कर्ण के जन्म और मरुत द्वारा अंजना के गर्भाधान की कथाएँ प्रचलित हैं उसी

---

१ ओडीपस की कथा से मिलती-जुलती कथा सिसलोल और लिसोर की है जो ओशनिया में प्रचलित है और जिसके अनेक रूपान्तर मिलते हैं। विलियम लेसा ने ओशनिया के उलीथी अतोल नामक स्थान में यह कथा संकलित की थी। यह, संक्षेप में, इस प्रकार है —

लिसोर, जो एक सरदार की पत्नी है, समय से पहले एक पुत्र प्रसव करती है। वह उसे समुद्र में बहा देती है। उसी द्वीप के दूसरे भाग में रहने वाला रसीम नामक व्यक्ति उसे समुद्र से छान लेता है और पाल-पोस कर जवान करता है। एक दिन वह संयोग से लिसोर (अपनी माता) के रजस्वला-गृह की बगल से गुजरता है। लिसार उसे देखते ही मुग्ध हो जाती है और उसे अपने पास बुलाती है। वह उससे प्रतिदिन मिलने जाने लगता है। रसीम उसे यह बताता है कि लिसोर उसकी माता है। वह लिसार से इस बात की चर्चा करता है, लेकिन वह तब भी उसे इसी प्रकार आते रहने के लिए कहती है। सरदार रजस्वला-गृह में अपनी पत्नी के असाधारण विलम्ब से अधीर हो जाता है और

प्रकार कभी यूरोप में यह विश्वास प्रचलित था कि पवित्र आत्मा के श्वास ने मेरी के कान से उसके गर्भ में प्रवेश किया और उससे ईसा का जन्म हुआ। सर जोन्स ने मिथिक और धार्मिक सामग्री के आधार पर बड़े अध्यवसाय से यह प्रमाणित किया है कि कान योनि का प्रतीक है और श्वास वीर्य का। अवचेतन में किसी भी सछिद्र वस्तु का अभिप्राय योनि हो जाता है जो मनोरोगात्मक उदाहरणों के विश्लेषण से भी स्पष्ट है। इसी तरह, श्वास, वायु ध्वनि वाणी और शब्द वीर्य के प्रतीक है। प्रजापति के मुख के श्वास से मनुष्य की रचना हुई (शतपथ ब्राह्मण, १ ३ १७६ तथा १ २ २)। ग्रीक देवी हेरा ने पवन द्वारा हेफायसटोस का गर्भाधान किया। अमरीका की अलगानक्यिन जाति मिकाबो का वेनोनाह से उत्पन्न मानती है जिसने पश्चिम पवन द्वारा उसे (मिकाबो को) अपने गर्भ में पाया था। एक चीनी कथा के अनुसार सभ्यता के प्रथम पुरुष होआङ्न्ती का जन्म कुमारी विङ माउ और गर्जन (ध्वनि) के सयोग से हुआ था। इस सन्दर्भ में बाइबिल की ये उक्तियाँ भी विचारणीय हैं—"सबसे पहले शब्द था, और शब्द ईश्वर के साथ था, और शब्द ईश्वर था, और शब्द शरीरधारी (येसू) हो गया। फ्रायड और उसके अनुयायियो से भी पहले सर लारेन्स गोम ने यह कहा था कि लोककथाओं में आद्यन्त बर्बरता के दर्शन होते है।[1] कोई भी व्यक्ति, जो इन कथाओं की सामग्री के आवरण के नीचे झाँकने का प्रयास करता है उसमें प्रच्छन्न असस्कृत और अवैध आकाक्षाओं से हतप्रभ हुए बिना नही रह सकता।

किन्तु युग, फ्रायड और उसके अनुयायियो द्वारा किये मिथ की अन्तवस्तु के विश्लेषण से सहमत नही है। युग का विकास फ्रायड के मनोविश्लेषण की भूमिका में आरम्भ हुआ, लेकिन मनोवैज्ञानिक सामग्री के अध्ययन से प्राप्त उसके निष्कर्ष भिन्न होते गये और परिणामत उसका मनोविश्लेषण से सम्बन्ध विच्छेद

वहाँ प्रवेश करने पर यह देखता है कि उसके मुख पर घाव है। उसे अपनी पत्नी पर संदेह हो जाता है। वहाँ गाव के सब लोग एकत्र होते है और उनमें से हर व्यक्ति की उँगली को लिसोर के मुख के घाव के समीप ले जाकर इस बात की परीक्षा की जाती है कि वह (घाव) किस व्यक्ति का है। अन्त में वहाँ सिखलोल आता है। उसकी उँगली उस निशान से मिल जाती है। क्रुद्ध सरदार उसे मारने के लिए कुल्हाडा उठाता है, लेकिन सिखलोल कुल्हाडा छीन कर अपने शत्रु (पिता) को मार डालता है। वह लिसोर के साथ चल पडता है। दोनो पति पत्नी की तरह रहने लगते है।

१ फोकलोर ऐज़ ऐन हिस्टॉरिकल साइन्स (१६०८) ८२।

हो गया। फ्रायड से उनकी असहमति का अवचेतन की व्याख्या से आरम्भ हुआ जिसका ऐतिहासिक प्रालेख उसका "अवचेतन का मनोविज्ञान" (१९१६) है।[1] फ्रायड में अवचेतन का अर्थ है वैयक्तिक अवचेतन जो, एक सीमा तक ही सही, चेतन द्वारा नियमित है। यह अवचेतन व्यक्तिगत जीवन के अनुभवों और प्रवृत्तियों द्वारा निर्मित है। यह उन दमित और विस्मृत विषयों का कोष है जो कभी चेतन थे और अब अवचेतन हो गये हैं। स्वयं फ्रायड का यह पुरातन और मिथिक विचार रूपों का बोध था जो वैयक्तिक नहीं कहे जा सकते हैं, किन्तु अपनी पद्धति की रूढ़ियों को तोड़ने में असमर्थ होने के कारण वह उनके साथ न्याय नहीं कर सका। एक मनोचिकित्सक के रूप में युग ने अवचेतन प्रक्रिया के विश्लेषण के क्रम में यह अनुभव किया कि फ्रायड का अवचेतन, अवचेतन की ऊपरी परत भर है। उस परत के नीचे एक दूसरा मानस भी है— सामूहिक सार्वभौम और निर्वैयक्तिक प्रकृति का जो सभी व्यक्तियों में समान है (१९५९ ४३)[2] यह मानस निजी उपलब्धि नहीं है। इसे किसी तार्किक या बौद्धिक पद्धति से नहीं समझा जा सकता। यह अधिवैयक्तिक प्रकृति का वह मानसिक आधार-तत्त्व है जो आद्यरूपों या आद्यरूपीय बिम्बों से निर्मित है। विश्व की विभिन्न जातियों के धर्म मिथ कविता आदि में इन बिम्बों या प्रतीकों की व्यापकता का यह कारण दिया जाता है कि इनका प्रसार हुआ है। किन्तु युग को ऐसे असंख्य उदाहरण मिले जिनकी व्याख्या प्रसार के सिद्धान्त के आधार पर नहीं की जा सकती और जिन्हें आनुवंशिक मानना कहीं अधिक संगत है। ये प्रतीक समस्त मानव जाति की स्मृतियों और इसके सदस्यों (व्यक्ति मनुष्यों) के मानस के निम्नतम स्तरों की अवचेतन शक्तियों के प्रतिनिधि हैं। ये प्राक्-तार्किक और प्राक्-जैविक हैं। व्यक्ति के चित्त के प्रसन्न रहने पर यह सामूहिक अवचेतन इन्हीं बिम्बों या प्रतीकों के रूप में अनुभूत होता है। चित्त के स्वाभाविक बंध के टूटते ही स्वतंत्र रूप में क्रियाशील हो उठते हैं और व्यक्ति के मानस को अभिभूत कर लेते हैं। इन बिम्बों का आनुवंशिक रूप में संवहन होता है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जैविक विशेषताओं और प्रयोगों का। मानसिक आनुवंशिकता सामूहिक अवचेतन का स्वभाव है— (सामूहिक अवचेतन के) ये महान आद्य बिम्ब एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मस्तिष्कीय संरचना के माध्यम से प्राप्त होते हैं।"[3]

---

१ "प्रतीकों का रूपान्तरण" के नाम से पुनर्लिखित और द कलेक्टेड वर्क्स आव सी जी युग, खण्ड ५ (१९५६) के रूप में प्रकाशित।

२ कलेक्टेड वर्क्स आव सी जी युग खण्ड ९ भाग १ (१९५९)।

३ 'मानस की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकृत यह अवचेतन, सार

मिथ स्वप्न और धर्म का आद्यरूपों से बहुत समीपी सम्बन्ध है। "मिथ आत्मा की प्रकृति को व्यक्त करने वाली मानसिक घटनाओं में प्रथम और प्रमुख है। (१९५९ ६) इसके व्याख्याताओं ने इसे प्राकृतिक घटनाओं की अन्योक्ति बना दिया है। उन्होंने इसे कभी चान्द्र माना तो कभी सौर और कभी वानस्पतिक। यह सोचना गलत है कि आदिम मनुष्य वस्तुजगत की व्याख्या में बहुत अधिक रुचि का अनुभव करता है और इस क्रम में मिथ के रूप में भ्रान्त विज्ञान की रचना करता है। मनुष्य की सबसे बड़ी प्रवृत्ति—मनोवैज्ञानिक आवश्यकता—बाह्य जगत के आन्तरीकरण की है। इसलिए सूर्य का उदय या अस्त उसके लिए भौतिक घटना नहीं रह जाता, वरन वह एक मानसिक घटना बन जाता है। उसका सूर्य, सूर्य नहीं रह जाता, बल्कि वह कभी देवता बन जाता है तो कभी लोकनायक। ये देवता और लोकनायक उसकी आत्मा में निवास करने वाली सत्ताएँ हैं। वसन्त, ग्रीष्म, शरत आदि उसके अवचेतन की अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण कर लेते हैं। इस प्रकार प्रकृति वस्तुसत्ता न होकर उसे अपने मानस का दर्पण प्रतीत होती है। वस्तुसत्ता के सात्म्यीकरण की यह प्रक्रिया सदियों से चली आ रही है और इसने मिथ के रूप में व्यक्त इन बिम्बों को उसकी चेतना में जड़ दिया है। चूंकि मिथ में व्यक्त होने वाले बिम्ब अवचेतन हैं इसलिए आश्चर्य नहीं यदि इनकी व्याख्या करने वाले व्यक्तियों का ध्यान स्वयं अवचेतन की ओर न जाकर हर वैसी वस्तु की ओर गया जो अवचेतन नहीं है।

मिथ में व्यक्त आद्य बिम्ब या प्रतीक की विशेषता इनकी अशेष अर्थवत्ता है। इनका समीकरण किसी विशेष अर्थ के साथ नहीं किया जा सकता। ये मूलतः अवचेतन वस्तु का संकेत करते हैं—वैसी वस्तु का, जो न कभी चेतन थी और न अभी चेतन है। अतएव फ्रायड की तरह किसी विशेष धारणा के आधार पर सभी मिथों की व्याख्या करने का प्रयत्न व्यर्थ है। मनोविश्लेषण की एक सीमा यह भी है कि वह इनमें व्यक्त अवचेतन की सामग्री के पुनर्निर्माण की चेष्टा करता है और उसे केवल एक (यौन) अभिप्राय दे देता है। यह एक प्रकार का सरलीकरण है। यह सच है कि मानवीय सहज प्रवृत्तियों में यौन वृत्ति का महत्व बहुत अधिक है और स्वप्नों, मिथों अथवा लोक-कहानियों में वैसे अभिप्राय मिलते हैं जो स्पष्टतः रत्यात्मक हैं किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य सहज प्रवृत्तियाँ

रूप में संस्कारों की उस पूरी शृङ्खला को समाहित किये हुए हैं जिन्होंने (संस्कारों ने) सुदूर अतीत से मानसिक संरचना का निर्धारण किया है। (साइकोलॉजिकल टाइप्स १९२३ २११)।

सम्भावनाओं का प्रतीक है और यही कारण है कि मिथिक मुक्तिदाताओं में अनेक बालदेवता हैं। इसी प्रकार हमें यह भी मालूम होगा कि प्रत्येक मिथिक द्विचर होता है—सन्दर्भ भेद से सृष्टि और विनाश, शुभ और अशुभ आदि परस्पर-विरोधी भूमिकाओं में व्यक्त होने की क्षमता रखता है। युग ने धर्म, मिथ, कविता आदि की प्रभूत सामग्री का एक साथ अध्ययन कर इन निष्कर्षों को पुष्ट और प्रमाणित किया है। इन निष्कर्षों से प्रेरित होकर मिस बाडकिन ने "आर्केटाइपल पटर्न इन पोयट्री" में इन बिम्बों का पुरानी और नयी, दोनों प्रकार की कविता के सन्दर्भ में अध्ययन किया है तथा उसमें इनकी आवर्तक और द्विचर स्थिति सिद्ध की है।

वस्तुतः फ्रायड और युग के मिथ विवेचन का पार्थक्य दोनों की अवचेतन सम्बन्धी मान्यता के वृहत्तर भेद का एक पक्ष है। फ्रायड ने भी कहीं-कहीं मिथ की सामूहिकता का उल्लेख किया है 'उदाहरणार्थ, बहुत सम्भव है कि मिथ पूरी की पूरी जाति की इच्छाजन्य फन्टसी के विकृत अवशेष—आरम्भिक मानवता के स्वप्न हों।'[1] लेकिन उसका दृष्टिकोण मुख्यतः वैयक्तिकवादी है इसलिए वह यत्र-तत्र मिथ की सामूहिक प्रकृति का उल्लेख करते हुए भी उसे विकृत या बालोचित ही मानता है। किन्तु मिथ बालोचित नहीं है। यह आरम्भिक मानवता की प्रौढ़ रचना है—आदिम जीवन की वैसी आवश्यकता जिससे आज का वैज्ञानिक मानव आगे नहीं बढ़ सका है। मिथ पूरी जाति का स्वप्न है।[2] और वह अवचेतन, जो मिथ और स्वप्न में व्यक्त होता है, अन्ध और बर्बर नहीं है। किन्हीं स्थितियों में तो वह चेतन मानस से भी अधिक, प्रबुद्ध, सोद्देश्य और अन्तर्दृष्टि सम्पन्न है। उसके व्यक्त रूप (मिथ और स्वप्न) न केवल विरेचक है, वरन आत्मज्ञान देने में सक्षम भी। वह फ्रायड की इस मान्यता से भी सहमत नहीं है कि स्वप्न का व्यक्त रूप उसका वास्तविक रूप नहीं है, क्योंकि इसका अभिप्राय उसके व्यक्त रूप के पीछे प्रच्छन्न है। सच तो यह है कि ऐसा कह कर हम अपनी असमर्थता प्रमाणित करते हैं। "स्वप्न एक वैसी पुस्तक है जो हम इसलिए दुर्बोध प्रतीत होती है कि हम उसे ठीक-ठीक नहीं पढ़ पाते।' (माडर्न मैन इन सर्च आव ए सोल १६३३ १५)

यह सही है कि युग द्वारा प्रस्तुत अवचेतन की व्याख्या ने मिथ के स्वरूप

---

१ द इन्टरप्रिटेशन ऑव ड्रीम्स १८२

२ युग ने पूरी जाति के भाव-संकुलों को व्यक्त करने वाले कुछ मिथों का उल्लेख किया है जैसे—ओडीपस और फाउस्ट मिथ। ओडीपस मिथ ग्रीक जाति और फाउस्ट मिथ जर्मन जाति के सामूहिक अवचेतन को व्यक्त करते हैं।

पर पुनर्विचार सम्भव बनाया है और कविता को समझने-परखने की एक नयी दृष्टि प्रस्तावित की है, लेकिन सामूहिक अवचेतन की संकल्पना की अपनी कई कठिनाइयाँ हैं।

प्रतीकों की सामूहिकता पर विवाद की बहुत कम सम्भावना है लेकिन इनकी सार्वभौमता और जननिक (आनुवंशिक) सर्वहन तर्क से परे नहीं है। सार्वभौम कहे जाने वाले प्रतीकों में बहुतों की व्यापकता का कारण प्रसार है और जहाँ इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता, वहाँ इनके प्रसार की सम्भावना का एकबारगी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। जहाँ किन्हीं प्रतीकों में अन्तरसांस्कृतिक साम्य दिखायी पड़ता है वहाँ भी उनकी प्रयोक्ता जातियों के ठोस जीवन-सन्दर्भों में उनकी परीक्षा किये बिना यह कैसे कह दिया जा सकता है कि उनमें वस्तुतः साम्य है? क्या बहुत सी स्थितियों में साम्य सतही और भ्रान्तिमूलक नहीं हो सकता? डा० रावस ने जन्म सम्बन्धी प्रतीकों के विवरण पर विचार करने के बाद यह कहा है कि प्रतीकों की सार्वभौमता की धारणा ही असंगत है। (फोक्लोर खण्ड XXXIII संख्या—) लेकिन प्रसार, प्रसार की सम्भावना और वास्तविक जीवन-सन्दर्भ में प्रतीकों के साम्य की परीक्षा-जैसी बातों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि सार्वभौम प्रतीकों का अस्तित्व ही नहीं है। यह बात अक्सर भुला दी जाती है कि सांस्कृतिक नियतिवाद और संस्कृतियों के ऐतिहासिक सम्बन्धों के बावजूद एक ऐसा सीमान्त है जो सभी मानव जातियों में एक-जैसा है। अन्यथा धाटा राक (१६१४) को विच्छिन्न मान ली गयी संस्कृतियों में लोक नायकों के समान मिथ नहीं मिलते अथवा इस विषय में अभिरुचि लेने वाले मानव-वैज्ञानिकों ने यह नहीं कहा होता कि फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिकों द्वारा निर्दिष्ट प्रतीकों का अस्तित्व सार्वभौम है।[1]

किन्तु युंग की यह धारणा प्रामाणिक नहीं है कि जैविक विशेषताओं और प्रवृत्तियों की तरह सामूहिक अवचेतन भी आनुवंशिक है। उनका यह आग्रह इतना

---

१ 'मेरे और मेरे सहयोगियों के क्षेत्रीय कार्य द्वारा उद्घाटित तथ्यों ने मुझे इस निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए बाध्य किया है कि फ्रायड और अन्य मनोविश्लेषकों ने आश्चर्यजनक सत्यता के साथ प्रेरणामूलक जीवन के ऐसे अनेक केन्द्रीय विषयों का चित्रण किया है जो सार्वभौम हैं। इन विषयों की अभिव्यक्ति की शैलियाँ और व्यक्त अन्तर्वस्तु का बहुत कुछ संस्कृति द्वारा निर्धारित है भूत मनोवैज्ञानिक घटनावली सांस्कृतिक भेद से परे है।"

कहान और मागन साइकोएनेलिसिस एण्ड एथ्रापॉलॉजी १६५१

रहस्यवादी हैं कि इसे किसी तक के आधार पर सिद्ध नही किया जा सकता। किन्तु मिथ के सन्दभ में उसके कई निष्कर्ष पर्याप्त महत्त्व रखते हैं। उदाहरणार्थ, उसका यह कथन सही है कि मिथ या अवचेतन के प्रतीकों के केवल यौन अभिप्राय ही नही होते। (इससे नव्य विश्लेषण भी सहमत है।) आद्यरूपीय बिम्ब या आद्यप्ररूप को "आधिदैविक' और "प्राक-मानव" मानने में आपत्ति हो सकती है, लेकिन उसे आवर्तक बिम्ब या प्रतीक—आवर्तक स्थितियों और पात्रों—के अर्थ में स्वीकार करने में कोई कठिनाई नही होनी चाहिए। जब युग यह कहता है कि "स्थितियाँ और पात्रों के वर्गों प्ररूप हैं जो अपने को बार-बार आवृत्त करते हैं और जिनका एक समरूप अभिप्राय है" (१९५६ १८३) तो कोई कारण नही कि हम उससे अपनी को असहमति की स्थिति में पायें। वस्तुतः उसका सबसे बडा योग विश्वभर के मिथों के बीच बसी प्रतीकात्मक समरूपताओं का उदघाटन है जो संस्कृति विशेष तक सीमित न होकर अन्तरसांस्कृतिक और इस प्रकार विशुद्ध मानवीय हैं तथा जिनका उससे पहले इतनी स्पष्टता के साक्षात्कार नही किया जा सका था।

मानव मनोविज्ञान में प्रतीकात्मकता के महत्त्व की स्वीकृति का ही एक रूप कासिरर का दर्शन है। किन्तु वह प्रतीकों के माध्यम से मानस की अभिव्यक्ति को न तो किसी प्रकार के दमन का परिणाम मानता है और न अवचेतन के किसी दूसरे (सामूहिक) स्तर की प्रेरणा। वह प्रतीकीकरण को मानस की आधारभूत और स्वाभाविक क्रिया मानता है और इसीलिए उसके मिथ—सम्बन्धी निष्कर्ष दूसरों से बहुत भिन्न हो गये हैं।

ज्ञान-मीमांसा में अब तक तर्कप्रधान बुद्धि को ही महत्त्व दिया जाता रहा है। यह पहले से ही मान लिया गया है कि मानव चेतना की कला, मिथ, कविता आदि अभिव्यक्तियाँ ज्ञान न होकर "अज्ञान" हैं। यही कारण है कि बुद्धिमान समझे जाने वाले बहुत-से लोगों ने इनको सत्य का विरूपण या भ्रान्ति कह दिया है। प्रश्न यह है क्या यह संगत है कि मानव मन की उस विपुल सामग्री को, जो इन माध्यमों से व्यक्त होती है, अविचार्य मान लिया जाय? दार्शनिकों में क्रोचे के बाद शायद कासिरर पहला व्यक्ति है जिसने यह अनुभव किया है कि ज्ञान-मीमांसा का कोई भी सिद्धान्त तब तक पूर्ण नहीं है जब तक वह इस सामग्री पर भी विचार नही करता। उचित तो यही है कि इस "अज्ञान" से ही ज्ञान मीमांसा का आरम्भ किया जाय और तथाकथित 'ज्ञान" के साथ इसकी संगति की परीक्षा हो। कासिरर की लीक से हट कर सोचने की इस पद्धति ने एक नये दर्शन को जन्म दिया है। वह दर्शन है—प्रतीकवादी तर्कशास्त्र।

प्रतीकवादी तर्कशास्त्र मानस की बौद्धिक प्रक्रिया को आधारभूत या श्रेष्ठ

मान कर नही चलता । उसकी मान्यता यह ह कि हमारा मानस दो भिन्न, स्वतत्र और समानान्तर प्रक्रियाओ के माध्यम से काम करता ह । वे प्रक्रियाएँ हैं—मिथिक और दार्शनिक (या वज्ञानिक) । पहली प्रक्रिया सश्लेषणात्मक ह ता दूसरी विश्लेषणात्मक । पहली का काय ह सघनन तो दूसरी का तथ्यो का विवरण । भाषा की प्रकृति के विश्लेषण के माध्यम से इस बात को स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है, क्याकि उसमें चिन्तन की ये दोना प्रक्रियाएँ विद्यमान ह । मक्सम्यूलर की तरह मिथ को भाषा की विकृति न मान कर इस पर नये दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता है, क्योंकि मनुष्य के अनुभव का कोई भी रूप वास्तविकता का यथा-तथ्य ग्रहण नही ह । यदि मिथ यथाथ का विरूपण है तो विज्ञान और दशन द्वारा प्रस्तुत यथाथ के चित्र भी मानसिक रचना मात्र हैं । यह सोचना भ्रम ह कि हमार अनुभव के अमुक अमुक रूप निरपक्ष वास्तविकता के समकक्ष ह ।

योग्रानोस फोन उएक्सक्यूल के साक्ष्य पर कासिरर यह कहता ह कि वास्तविकता कोई सरल और समरूप वस्तु नही है । इसका प्रत्यय जीवजाति के विशिष्ट (जविक) स्वरूप पर निभर करता ह । विश्व में जितनी जीवजातियाँ ह, उतनी ही वास्तविकताए भी । वह उएक्सक्यूल की इस धारणा में एक और बात जोडना चाहता ह—वह यह कि वास्तविकता की ग्रहण—(मिक्नेटस) और सम्पादन—व्यवस्थाओ (विक्नेटस) जो सभी जातियो में एक जसी ह, ' के बीच मनुष्य म हम एक तीसरी कडी पाते ह जिसे हम प्रतीकात्मक व्यवस्था कह सकते ह ।" एसे आन मन (२४) प्रतीक वस्तु (के पर्याय) नही ह । वे वस्तुसत्ता और मानस के मध्यस्थ ह । वे वस्तुसत्ता की प्रकृति की अपेक्षा मानस की प्रकृति का व्यक्त करते ह । पुराने मनोवज्ञानिको की तरह यह सोचना भ्रम ह कि मानस का काय सवेदनाओ का अभिलेखन और सयोजन मात्र ह बल्कि यह कहना अधिक सगत ह कि वह वस्तुजगत से प्राप्त सवेदनाओ का यथावत ग्रहण नही करता । वह उन्हें रूपान्तरित कर प्रतीको का रूप प्रदान करता है । इसका अभिप्राय यह होता है कि हमारा मानस वस्तुसत्ता का साक्षात्कार जिस रूप में करता ह वही रूप हमार बौद्धिक कोटीकरण का आधार बन जाता ह । यदि कोरा इण्डियन तितली को पक्षियो की श्रेणी में अन्तभुक्त करते ह ता इसका अथ यही ह कि वे इसका साक्षात्कार भी इसी रूप में करते ह । कासिरर को प्रमाणित करने के लिए एक और उदाहरण दिया जा सकता ह । ट्राब्रिएण्ड भाषा म एक ही वस्तु अपने विकास की विभिन्न स्थितियो में नितान्त भिन्न वस्तुओं क रूप में सकल्पित होती हैं । (डोरोथी ली रीडिंग्स इन एन्थ्रोपालाजी १९६६ २६१—२७०) यह भी यथाथ क साक्षात्कार की प्रक्रिया का परिणाम है । मिथ या कला के

प्रसग में जिसे यथाथ का विरूपण कहा जाता रहा ह वह प्रतीक प्रयोग की प्रक्रिया मात्र की सीमा है। सच तो यह ह कि गणित हो या मिथ, इस प्रकार क सभी मानवीय प्रयत्न वस्तुसत्ता से अधिक हमारी चेतना के चमत्कार ह।

इस आधार पर मनुष्य के सम्बन्ध में प्रचलित परिभाषाओं में सशोधन किया जाना चाहिए। यह कहना कि मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी ह, एक अधूरी और अक्षम परिभाषा का अवलम्बन लेना ह। मनुष्य की क्रियाओं में जितना महत्व बौद्धिकता का है, उतना ही गैर-बौद्धिकता का। तर्क और विज्ञान की भाषा क समानान्तर एक अन्य भाषा—आवेग और कवित्व की भाषा—का भी अस्तित्व है। अतएव मनुष्य की यदि कोई सगत परिभाषा हो सकती है तो यही कि वह प्रतीकीकरण करने वाला प्राणी है। मिथ और विज्ञान प्रतीकीकरण की प्रक्रिया के ही दो रूप ह।

मिथ मूलत गैर-बौद्धिक और आवेगात्मक ह। यदि इसमें किसी अन्विति का अन्वेषण किया जा सकता ह तो आनुभूतिक अन्विति का। इस तथ्य की उपेक्षा के कारण ही कभी इसे अव्यवस्थित और असगतियों का पुज मान लिया जाता है तो कभी इसे आधिबौद्धिक या अतिप्राकृतिक कह कर इसके आध्यात्मिक सत्य का उद्घाटन किया जाता ह। जो इसे मूलत बौद्धिक मानते ह, वे इसके बौद्धिक केन्द्र का उद्घाटन करना चाहते ह। इन्हीं भ्रान्तियों के कारण मिथ की व्याख्या करने वाले विभिन्न सम्प्रदायों का विकास हुआ है। इनकी असफलता का इतिहास यह बतलाता ह कि अब तक किसी ने भी मिथ को उचित पर्यवस्थिति में देखने का प्रयत्न नहीं किया है। इसका अर्थ यह नहीं कि मिथिक सकल्पना में बौद्धिक अभिप्रायों का एकान्तिक अभाव होता है, बल्कि यही कि इस पर बौद्धिकता के आरोप के प्रयत्नों ने "मिथिक अनुभव के बुनियादी तथ्यों की उपेक्षा की ह। मिथ का वास्तविक आधार तत्व विचार का नहीं, बल्कि अनुभूति का ह। मिथ आवेग से उत्पन्न ह और इसकी आवेगात्मक पृष्ठभूमि इसके सभी उपादानों को अपने विशेष वर्ण से रजित कर देती है।' (एसे ऑन मन ८१ ८२)

मिथ के महत्व और मानस की अभिव्यक्ति के रूप म इसके स्वतत्र अस्तित्व के प्रमाण भाषा की सरचना में मिलते ह। भाषा और मिथ का मूल एक है, अपने प्रारम्भिक रूप में भाषिक सकल्पना मिथिक सकल्पना है। आदिम मानस में शब्द स्वय वस्तु है और इसीलिए शब्द पर अधिकार स्वय वस्तु पर अधिकार है। उदाहरणार्थ, देवता का नाम स्वय देवता है और उसके नाम पर नियत्रण स्वय देवता पर नियत्रण है। शब्द को वस्तु और सबमें बडी शक्ति मानने की यह धार्मिक मिथिक सकल्पना भाषा का मूल सकल्पनाओं के रहस्य की कुजी है।

आगे चल कर इन्हीं सकल्पनाओं का विविक्तीकरण और नये रूप में व्यवस्थापन होता है। तब म गणित, दर्शन, भौतिकी आदि के रूप में विकास पाती है।

सकल्पनाओं के क्रमिक विविक्तीकरण का प्रमाण उसेनर की पुस्तक भग वन्नाम (गोटटेर नामेन)—जिसका उपशीर्षक धार्मिक सकल्पना पर एक निबन्ध' है—में मिल जाता है। इस पुस्तक म भगवन्नामों के विकास के आधार पर धार्मिक मिथिक चेतना को तीन क्रमिक स्थितियों में विभाजित किया गया है। पहली और प्राचीनतम स्थिति क्षणानुभावी देवताओं की है। इसमें कोई भी तात्कालिक अनुभूति या अनुभूति उत्पन्न करने वाली वस्तु पवित्र और पूज्य बन जाती है। ग्रीक संस्कृति म बुद्धि, भाग्य मंदिरा, प्रियतमा की देह का देवता माना जाना इसी का उदाहरण है। दूसरी स्थिति के देवता क्षणिक अनुभूतियों से उत्पन्न न होकर व्यवस्थित और क्रमिक कार्यों के परिणाम है। इस स्थिति में प्रकृति पर मनुष्य का नियन्त्रण बन जाता है। इसम फसल काटने या बीज बोने—जैसे क्रियात्मक देवताओं का उदय होता है। तीसरी स्थिति म इन सभी देवताओं का विकास एक परम दैवत की कल्पना के रूप म होता है।

कासिरर इन तीन स्थितियों को स्वीकार करता है, लेकिन वह कहता है कि इनसे पूर्व भी एक स्थिति है जो कई पोलिनेशियन और मलेनेशियन जातियों के विश्वासों के विश्लेषण के द्वारा निर्दिष्ट की जा सकती है। वह निर्वैयक्तिक और अनाम चेतना की स्थिति है। माना मुलुंग (वट्ट) मानीटू (अलगानकियन), वाकन (आसेज) आदि की सकल्पना इसी प्रकार की है। बहुत-से विद्वानों ने माना या वाकन की व्याख्या आध्यात्मिक वैयक्तिक और चेतन शक्ति के रूप में की है किन्तु यह ईसाई धारणा का आरोप है। कासिरर का इस सम्बन्ध में, यह निष्कर्ष है—'यह (माना) एक विशेष गुण का द्योतक है जो परस्पर भिन्न और असम्बद्ध वस्तुओं म मिल सकता है और जो सामान्य से भिन्न मिथिक चमत्कार और विस्मय की भावना उत्पन्न करता है। (लैंग्वेज ऐण्ड मिथ १६४ ६७) यही निष्कर्ष अन्य मानव-वैज्ञानिकों का भी है।[1] कासिरर इसे धार्मिक चेतना का प्रथम स्तर कहता है। इसी से आगे ये तीन स्थितियाँ है जो चेतन और व्यक्ति देवता की धारणा को व्यक्त करती है। सम्मिलित रूप म ये चारों स्थितियाँ मिथिक है। चौथी स्थिति अर्थात परम दैवत की कल्पना के बाद धर्म और मिथ का विकास विपरीत दिशाओं में होने लगता है। यह बिन्दु भाषा और मिथ के पृथक्करण का—भाषा में मिथिक स्तर के अतिरिक्त तार्किक

1 द्रष्टव्य मार्गरेट अण्डरहिल रेड मन्स रेलिजन १६६५ २० २१।

स्तर के विकास का है, 'क्योंकि भाषा केवल मिथ के क्षेत्र की ही नहीं है, यह अपने भीतर एक दूसरी शक्ति—तर्क की शक्ति—को वहन करती है।' (वही ९७)

इससे दो बातें प्रमाणित होती हैं मिथ मानस का आद्य रूप है, तथा यह दिवा-स्वप्न, यथार्थ का विरूपण या भ्रान्त ज्ञान न होकर विज्ञान और प्रयोजन मूलक ज्ञान से भिन्न, किन्तु उनकी तरह ही संगत चिन्तन प्रणाली है।

एस० के० लगर की 'फिलॉसाफी इन ए न्यू की' के मिथ-सम्बन्धी निष्कर्ष मुख्यत कासिरर के विचारों पर आधारित है। जैसे कासिरर की तरह लगर भी प्रतीकीकरण की प्रक्रिया के दो भेद मानती है—भाषिक और अभाषिक। भाषिक चिन्तन भाषा से आरम्भ होता है और भाषा में ही समाप्त भी। उसकी अभिव्यक्ति मिथ और कविता में होती है। अभाषिक चिन्तन अनुष्ठानों और दृश्य कलाओं में × के रूप में व्यक्त होता है। वे यह भी कहती है कि मिथिक चिन्तन वैज्ञानिक या विश्लेषणात्मक चिन्तन का पूर्ववर्ती है। इस आधार पर वे मिथ को आदिम दर्शन का महत्व देती है। 'यह तत्व मूलक चिन्तन की आदिम स्थिति, सामान्य धारणाओं का प्रथम मूर्त रूप है। (पृ० १६३) वे इसको वस्तु जगत् का विरूपण नहीं मानती, वरन रूपकात्मक जगत चित्र और जीवन का अन्तर्दर्शन कहती है।[1]

किन्तु लगर अपने गुरु कासिरर के विचार सूत्रों का मौलिक रूप में उपयोग करते हुए कई नये निष्कर्षों की स्थापना भी करती है। वे लोक-कहानी और मिथ की सामग्री में समानता का उल्लेख करते हुए उस सामग्री के विनियोग के जिस पार्थक्य पर बल देती है वह परिचित होते हुए भी एक नये बन्ध में उपस्थित हुआ है।

सामान्य लोक-कहानी (परी-कथा) का स्वरूप आत्मनिष्ठ होना है। वह दमित इच्छाओं की काल्पनिक परितृप्ति तथा वास्तविक जीवन की न्यूनताओं की पूर्ति का परिणाम है। उसमें व्यक्त होने वाला द्वन्द्व व्यक्ति और उसके परिवेश का है। अतएव उसका नायक (ग्रह) जिन दैत्यों का वध करता है, वे उसके अग्रज, पिता या प्रतिद्वन्द्वी है। इसके विपरीत मिथ का स्वरूप निर्वैयक्तिक और सामाजिक है। उसके नायक व्यक्ति न होकर सम्पूर्ण समाज या कबीले है। उनके कृत्य प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध मानवीय संघर्ष और उन पर सामाजिक शक्तियों की विजय के प्रतीक है। मिथ में एक ओर समाज और व्यक्ति है

---

१ 'मिथ मानवीय अस्तित्व के नाटक है। इनका अन्तिम लक्ष्य जगत का काल्पनिक विरूपण नहीं, वरन् इसके मूलभूत सत्यों का गम्भीर परिदर्शन है।' (वही १४३)

तो दूसरी ओर प्रकृति और मानव-जाति के पारस्परिक सम्बन्ध, भावात्मक फलकों के रूप में ... हुआ है। मगर आदिम मनुष्य के सम्बन्ध में प्रचलित इस धारणा को स्वीकार नहीं करती कि वह मानव और शेष प्रकृति के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं खींच पाता और इसीलिए प्रधान पदार्थों का मानवीकरण करता है। इसके विपरीत उसकी मान्यता यह है कि वह मानव का प्रकृतिकरण करता है। हिरन-सम्बन्धी पौराणिक कथाओं के विश्लेषण के बाद वे यह कहती हैं कि हिरन के रूप में चन्द्रमा का मानवीकरण नहीं हुआ है वरन् हिरन का चन्द्रीकरण (पृ० १४७) हुआ है। यह प्रकृतिकरण मानव पात्रों को विराटता प्रदान करता है तथा उनके कृत्यों को सार्वभौम सार्थकता से युक्त कर देता है।

अब तक मिथ और कविता के विश्लेषण के सन्दर्भ में मानवीकरण की ही चर्चा होती रही है किन्तु प्रकृतिकरण भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है जितना कि मानवीकरण। हम चन्द्रमा को नायिका का मुख कह कर प्रकृति का मानवीकरण करते हैं तो नायिका के मुख को चन्द्रमा कह कर मानव का प्रकृतिकरण। मिथ और कविता दोनों में हम इस प्रकृतिकरण द्वारा व्यक्ति को व्यापक आयाम देते हैं और उसे व्यक्ति के समतुल्य की खोज करते हैं।

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मिथ में मानवीकरण नहीं होता (हालांकि लेखिका यही कहना चाहती है) किन्तु मानव के प्रकृतिकरण की यह धारणा वस्तुस्थिति के एक अनुल्लिखित पक्ष को सामने लाती है। अवतारों और लोकनायकों के चरित्र में प्रकृतिविषयक अभिप्रायों का समावेश होता रहा है। एक ओर उनका चरित्र सामान्य मनुष्य के चरित्र से बहुत भिन्न नहीं है तो दूसरी ओर वह अपनी असाधारणता में उससे बहुत भिन्न भी। अवतारों और लोकनायकों में धीरे धीरे लोकोत्तरता का यह पक्ष इतना प्रबल हो जाता है कि वे स्वयं प्रकृति—प्राकृतिक शक्तियों और नियमों के प्रतीक बन जाते हैं। सूर्य और चन्द्रमा की तरह उनके मुख मण्डल के चारों ओर ज्योति का वलय मिलता है। उनके एक संकेत पर पहाड़ हिलने लगते हैं और आँधी थम जाती है। गीता के कृष्ण का विराट रूप इसी प्रक्रिया की एक परिणति है। कृष्ण और मिथ पर लिखे अपने दीर्घ निबन्ध में एल्मर जी जूर का निष्कर्ष यही है कि उनके चरित्र में सौर मिथ—मुख्यतः ग्रहण विषयक अनेक धारणाएं प्रविष्ट हो गयी हैं। प्रमाणों के आधार पर वह यह प्रतिपादित करता है कि अवतार या मसीहा की कल्पना में ग्रहण विषयक प्रतीकात्मकता मिलती है। प्राचीन साहित्य में ग्रहण की कल्पना कभी दैत्य और कभी सर्प के रूप में की गयी है। कृष्ण द्वारा कालिय नाग और कालनेमि दैत्य के अवतार कंस के वध की समानान्तरता सूर्य या चन्द्र

द्वारा ग्रहण से अपनी और समस्त विश्व की मुक्ति में देखी जा सकती है।[1]

लगर द्वारा निर्दिष्ट प्रकृतिकरण की प्रक्रिया तब और भी सार्थक प्रतीत होती है जब हम उसे समकालीन लोकनायकों के सन्दर्भ में पूर्व युगों की तरह ही, काम करते देखते हैं। नये बागातीर (लोकनायक) के रूप में लेनिन की कल्पना का स्वरूप किसी अवतार के स्वरूप से बहुत भिन्न नहीं है। लेनिन सामान्य जनता से किसी अर्थ में अलग प्रतीत नहीं होता। वह उतना ही साधारण, लघु और मानवीय है जितना कि कोई भी सामान्य जन। लेकिन वह लोक की सामूहिक आकांक्षाओं का प्रतिनिधि और उन्हें चरितार्थ करने की अद्भुत क्षमता से युक्त नेता है। इसीलिए वह लोक कल्पना में एक ओर प्राकृतिक शक्ति बन जाता है तो दूसरी ओर प्रकृति का नियन्त्रक —

और उसने अपने बलशाली हाथों में
हमारे सुनहले सूरज को थाम लिया!
वह समुद्र के किनारे उतरा,
सूरज को धरती पर रख दिया
उसे धकेल कर ज़ोर से बोला
टुंड्रा के ऊपर जाओ
टुंड्रा के जीवन को सुन्दर बनाओ (लौटे हुए सूरज का गीत)

एक लोकगीत में यह कहा गया है कि दोलबेने नामक शिकारी ने लेनिन को मारना चाहा लेकिन उसे मारने में असमर्थ रहा —

दोलबेने सोचता है—क्यों ब्लादीमीर को सिर नहीं था?
'मैंने उसे छिपा दिया'—फर वृक्ष कहता है।
क्या ब्लादीमीर की पीठ नहीं थी?
'मैंने उसे छिपा दिया'—बोगूलनिक वृक्ष कहता है।
क्यों ब्लादीमीर अन्तर्धान हो गया?
'हमने उसे छिपा दिया'—जानवर कहते हैं।
(अब ताइगा में प्रकाश है)

प्रकृति के साथ लेनिन की यह सन्निकटता और तादात्म्य केवल शैली मात्र नहीं है। उसके विषय में प्रचलित गीत यह बतलाते हैं कि सामूहिक आकांक्षाओं को चरितार्थ करने वाले महान् जननायकों का इसी प्रकार प्रकृतिकरण और उन्नतीकरण हो जाता है।

मनोविश्लेषण, विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान और प्रतीकवादी तर्कशास्त्र मिथ

---

[1] कृष्ण ऐण्ड मिथ ऐज़ मेसाइयाज़ (फोकलोर ७७ २०६—२२१।)

की सामाजिक प्रेरणाओं के प्रति उदासीन नहीं है, किन्तु इनका विवेच्य मुख्यतः इसके पीछे काम करने वाली मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ ही हैं। अपने समाज वैज्ञानिक दृष्टिकोण के बावजूद सांस्कृतिक विकासवादी भी इसे एक विशेष प्रकार के मनोविज्ञान—आदिम मनोविज्ञान—से सम्बन्धित कर देखता है। टायलर को अपनी समकालीन आदिम जातियाँ भी मिथ-सर्जक स्थिति में दिखायी पड़ीं : आदिम जातियाँ आज भी मिथ-सर्जक स्थिति में निवास कर रही हैं। × × × × वे अब भी प्रायः उसी अपरिवर्तित स्थिति में हैं जिसमें मिथों का जन्म हुआ था। (१८८१ : २८३) लेकिन कार्यवादी मानवविज्ञान के एक प्रवर्तक मलिनोव्स्की की दृष्टि इन सबों से भिन्न हो जाती है। वह संस्कृति को कार्यात्मक इकाई मानता है और मिथ की परीक्षा सांस्कृतिक व्यवस्था में इसके कार्य या उपयोगिता के आधार पर करता है। वस्तुतः इस सम्बन्ध में उसके निष्कर्ष आदिम संस्कृति में प्रचलित मिथों के स्वरूप और उपयोग के प्रत्यक्ष अध्ययन पर आधारित हैं और फ्रेज़र भाषणमाला के अन्तर्गत दिये गये एक भाषण (मिथ इन प्रिमिटिव साइकोलॉजी) में व्यक्त है।

मिथ के पुस्तकीय रूप के आधार पर इसके स्वरूप की जानकारी कठिन है। प्राचीन काल के मिथ मूल जीवन विश्वास और सामाजिक व्यवस्था से विच्छिन्न रूप में ही हमें प्राप्त हुए हैं। पण्डितों और लिपिकारों ने उन्हें बहुत दूर तक परिवर्तित कर दिया है। अतएव मिथ के रहस्य का उद्घाटन तब तक सम्भव नहीं जब तक जीवित आदिम सन्दर्भ में इसका अध्ययन नहीं किया जाय। प्राचीन साहित्य के आधार पर इसकी परीक्षा करने वाले विद्वानों ने इसे प्रतीकात्मक माना है और ऐण्ड्र लैंग जैसे मानववैज्ञानिक ने तो इसे एक प्रकार का आदिम विज्ञान बना दिया है। किन्तु अपने जीवित सन्दर्भ में अधीत प्रतीकात्मक नहीं, वरन् अपनी विषय-वस्तु की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है, यह किसी वैज्ञानिक अभिरुचि के तोष के लिए की गयी व्याख्या नहीं, वरन् गम्भीर धार्मिक आवश्यकताओं, नैतिक आकांक्षाओं, सामाजिक स्वीकृतियों, धारणाओं—यहाँ तक कि व्यावहारिक आवश्यकताओं के तोष के लिए कहा गया, आदिम वास्तविकता का कथात्मक पुनर्जन्म है। (पृ० ७३) यह आदिम संस्कृति में एक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है। वह काम है विश्वास, नैतिकता, अनुष्ठान और सामाजिक व्यवहार का संरक्षण, कार्यान्वयन और समर्थन। उसके लिए यह उन विश्वासों, रीतियों और अनुष्ठानों को सुदूर अतीत में प्रतिष्ठित और अतिलौकिक वास्तविकता से सम्बन्धित कर उन्हें पुराकालीन, पवित्र और मानवातीत सिद्ध करता है। इसका अभिप्राय उन्हें अनुल्लंघ्य बना कर स्थायित्व प्रदान करना है। मिथ का लक्ष्य इस प्रकार, वर्तमान जीवन की वास्तविकता को ऐन्द्रजालिक विश्वास और निरप

वाद सामाजिक व्यवहार्यता म युक्त कर देना ह। जो व्यक्ति इसे कलात्मक विव या किन्ही बातो की बौद्धिक व्याख्या मानते ह व इसके स्वरूप से अपना अपरिचय ही प्रमाणित करते ह। विकासवादी मानववैज्ञानिको की यह मान्यता असगत है कि इसका सम्बन्ध केवल आदिम युग या जाति से है या कि वनानिक युग या समाज में इसकी मृत्यु हो जाती है। सामाजिक व्यवस्था से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित होने के कारण मिथ सत्व पुनर्जीवित होता है, क्योंकि प्रत्येक ऐतिहासिक परिवर्त्तन अपने मिथ का रचना करता है। इसलिए यह समझना गलत ह कि यह किसी अतीत का आलेख है और इसमें किन्ही सास्कृतिक अवशेषो की खोज कर पिछले इतिहास का पुनर्निमाण किया जा सकता है। ट्रान्निएण्ड द्वीपसमूह के मिथो की परीक्षा करने के बाद मलिनाव्स्की इस विचारोत्तेजक निष्कर्ष पर पहुँचता है कि किसी विश्वास, रीति या अनुष्ठान के बदल जाने पर उससे सम्बद्ध मिथ भी समाप्त हो जाते ह और उनके स्थान में एकदम नये मिथो का विकास हो जाता है।

यदि मलिनोव्स्की के विचारो की परीक्षा जीवित सामाजिक सन्दभ के एक छोटे से भाग—अनुष्ठान—को अपेक्षा में की जाये तो इनकी युक्तियुक्तता—और परे सामाजिक सन्दभ में व्याप्ति—के विषय म अनुमान लगाने में सुविधा हो जा सकती ह।

अनुष्ठान और मिथ की घनिष्ठता सस्कृति के अध्येताओ के लिए एक स्वयसिद्ध तथ्य रही है। लेकिन इनकी आपेक्षिक प्राथमिकता को लेकर विवाद भी होते रहे ह। मिथ अनुष्ठान के रहस्यो—उसके आरम्भ होने के कारणो, उसकी आयोजन विधि और माहात्म्य—का उद्घाटन करने के लिए कहे जाते रहे है। जिस प्रामणिकता के साथ ये अनुष्ठान की व्याख्या करते ह उससे यही प्रतीत होता ह कि ये ही उसके पूववर्ती हैं। यह धारणा बहुत प्राचीन है कि अनुष्ठान का जन्म मिथ से हुआ ह। किन्तु विभिन्न सस्कृतियो के क्षेत्र में किये गये कार्यों का निष्कर्ष ठीक इसके विपरीत हैं अनुष्ठान ही प्राथमिक और पूववर्ती है तथा मिथ परवर्ती। अनुष्ठान वस्तु ह और मिथ उसका युक्तीकरण। इस प्रसग में एरेनराइज्ज (१९१०) और लोबी (सिलेक्टेड पेपस ३३६ ६४) के कार्यों का उल्लेख किया जा सकता ह। एरेनराइज्ज ने उत्तरी अमरीका के मिथो और अनुष्ठानो (जो दुनिया के किसी भी भाग के इन्ही विषयो की अपेक्षा कही अधिक ज्ञात ह) के पारस्परिक सम्बन्धो की परीक्षा करने के बाद इस समस्या का जो समाधान प्रस्तुत किया है वह उपयुक्त निर्णय से भिन्न नही ह। लावी इस समाधान की सगति की परीक्षा उत्तर अमरीका की क्रा, ब्लैकफूट, हिदात्सा आदि जातियों के अनुष्ठानों और आनुष्ठानिक मिथो की भूमिका में करता है। उसके

अनुसार, किसी अनुष्ठान के सम्बन्ध में एक जाति के बीच जो कथा प्रचलित है, वही कथा दूसरी जाति के बीच नहीं, और जिस कथा के द्वारा एक जाति अनुष्ठान की व्याख्या करती है उसी के द्वारा दूसरी जाति दूसरे अनुष्ठान की। इसका अभिप्राय यह है कि अनेक स्थितियों में अनुष्ठान और मिथ स्वतन्त्र तत्त्व रहे हैं जो बाद में सम्बन्धित हो गये हैं। जिन स्थितियों में दोनों का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ प्रतीत होता है उनका विश्लेषण भी इसी बात की पुष्टि करता है। उत्तर भारत में दशहरे के सम्बन्ध में न जाने कितने प्रकार की कथाएँ कही जाती हैं। यदि उनकी परीक्षा सावधानी से की जाय तो यह अनुमान कठिन नहीं होगा कि मूल वस्तु अनुष्ठान (दशहरा) है न कि उसके विषय में प्रचलित कथाएँ जो एक बहुत पुरातन लोकोत्सव से पुनर्गठन के क्रम में उसमें जुड़ गयी हैं।

इससे यही प्रमाणित होता है कि मिथ की अपेक्षा उन सभी स्थितियों में होती है जिनमें किसी सामाजिक या नैतिक नियम, प्रथा, अनुष्ठान या विश्वास का 'समर्थन, प्राचीनता के प्रमाण, सत्यता और पवित्रता (७६) की आवश्यकता होती है—न कि यह कि सभी मिथों का जन्म अनुष्ठानों से होता है। मिथ के आनुष्ठानिक सम्प्रदाय की आलोचना में यही कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक जीवन के संचालक सभी विषय (चाहे वे अनुष्ठान हों या विश्वास या रीति) इसकी सीमा में आते हैं। मलिनाव्स्की की भी यही प्रस्तावना है।

सम्मिलित रूप में मलिनाव्स्की का सबसे बड़ा योग है जीवित सांस्कृतिक सन्दर्भ में मिथ का विश्लेषण और इस आधार पर उसके विषय में प्रचलित पूर्वधारणाओं का अस्वीकार। संस्कृति की सापेक्षता में पहले से चली आती हुई बहुत-सी बातों की परीक्षा करने पर उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि वे वस्तुस्थिति के मेल में नहीं हैं। फ्रायड ने मिथ एवं अन्य मानवीय अभिव्यक्तियों के मूल में ओडीपस ग्रंथि की प्रतिष्ठा की। लेकिन ट्राब्रिएण्ड समाज के बालकों का अध्ययन करते समय मलिनाव्स्की का यह अनुभव हुआ कि पिता के प्रति ईर्ष्या आदि भावनाओं के रूप में इस ग्रंथि का वहाँ अस्तित्व ही नहीं है। ट्राब्रिएण्ड समाज में विवाह के बाद पुरुष अपनी पत्नी के यहाँ रहता है और उसकी सन्तान की गणना उसके कुल में न होकर उसकी पत्नी के कुल में होती है। उसकी पत्नी के परिवार का प्रधान उसका सबसे बड़ा साला होता है। मलिनोव्स्की को ऐसे परिवार में उत्पन्न बालक में अपने पिता के प्रति न तो उभयप्रवणता का अनुभव मिला और न फ्रायडीय ओडीपस ग्रंथि का अस्तित्व ही। उसे ट्राब्रिएण्ड आदिम जातीय बालक में अपने मामा के प्रति ईर्ष्या आदि भावनाओं के रूप में वह ग्रंथि मिली जो इसके समतुल्य कही जा सकती है किन्तु पिता के प्रति इसका एक

भी उदाहरण नही मिला।[1]

मलिनाव्स्की के मिथ-सम्बन्धी विचारा ने इस विषय में चिन्तको को गम्भीर रूप में प्रभावित किया है। लावी, ई० ओ० जेम्स आदि मानववज्ञानिका ने अपने कार्यों द्वारा उसके निष्कर्षो का समथन किया है। ई० ओ० जेम्स, जो एतद्विषयक समाजवनानिक विचारों का जैसे पुनरीक्षण करता ह, उसको तरह ही यह कहता ह कि " मिथफ़ैंटेसी, कविता, रोमास दशन, धमशास्त्र या मनोविनान नही ह, यद्यपि अपने वैविध्यपूण शाखाविस्तारा और बाहरी योगा में, विकास और विकृतिया में यह प्राय इन सब तत्वा और विधाओ से सम्बन्धित हो गया है।" यह जिनासा का तुष्टि का साधन मात्र न होकर सामाजिक एकता को बनाये रखने और सामाजिक महत्व के व्यवहारा के कायान्वयन का एक शक्तिशाली माध्यम ह। वस्तुत इसका उद्देश्य प्रचलित जीवन प्रणाली का समथन और सरक्षण ह।[2] समाज मनोविनान की भूमिका में इस पर विचार करने वाले किम्बाल यग ने भी इस सामाजिक आचरण के निर्णायक के रूप में ही स्वीकार किया ह।

यदि मिथ की व्याख्या करने वाले सम्प्रदाया पर सम्मिलित रूप में विचार किया जाये तो उन्ह दो व्यापक वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—समाजवनानिक और मनावैनानिक। समाजवनानिक इसे सामाजिक आवश्यकताओ =ा=स उत्पन्न मानते ह और मनावैनानिक मानव मन की आन्तरिक आवश्यकताओ स। उदाहरण के लिए, लगर यह तो मानती है कि इसका विकास मानवीय आवश्यकताओ के अनुसार होना है, लेकिन उनकी दृष्टि म वह आवश्यकता मनावनानिक ह। वे अनुष्ठान और कमकाण्ड का मानव वनानिका का तरह, सामाजिक एकता या किसी अन्य व्यावहारिक उद्देश्य स प्रेरित नही मानती। यह (सामाजिक एकता) इसके परिणामो म स एक हा सकती ह लकिन न ता मिथ और न अनुष्ठान का ही मूलत इस उद्देश्य स विकास हुआ ह।' (फिलासफी इन ए न्यू की। ३६) इसी तरह अर्नेस्ट जोन्स यह कहता ह कि लोकसाहित्य (जिसमें मिथ सम्मिलित ह) कल्पना की कृति है और बाहरी प्रभाव कल्पना के काय द्वारा गृहीत रूप को प्रभावित करने के

---

१ विशेष के लिए द्रष्टव्य मैलिनाव्स्की कृत—'द फादर इन प्रिमिटिव साइकालाजी' (१६२७) और 'द सेक्सुअल लाइफ़ ऑव सवेजेज़ (१६२६)।

२ द नेचर ऐण्ड फक्शन आव मिथ। फाक्लार। दिसम्बर १६५७। ४७५।

३ वही ४८२

निबन्ध में किया है। "चार विनिबगो मिथ एक गठनात्मक रूपरखा" (एस० डायमण्ड द्वारा सम्पादित "कल्चर इन हिस्ट्री" में मुद्रित १९६०), "ग्रासदी वाल की कहानी" (१९६३) और मितालाजिक" (१९६४) में उसने न केवल इस पद्धति का विनियोग किया है, वरन इसका सैद्धान्तिक विस्तार भी। यद्यपि इन निबन्धो के पीछे गठनात्मक भाषाविज्ञान, सतात्रिकी (साइबरनेटिक्स) और ससूचन सिद्धान्त (इन्फॉरमेशन थ्योरी)—तीनो की प्रेरणा विद्यमान है किन्तु इन पर मुख्य प्रभाव ससूचन सिद्धान्त का है। ' मिथविज्ञान में रूपगत विश्लेषण, भाषाविज्ञान की तरह ही, तत्काल अर्थ की समस्या उत्पन्न करता है।' (१९६३ । २४१) मानव सस्कृति अर्थों के सप्रेषण की एक व्यवस्था है और मिथ इस व्यवस्था के अन्तर्गत विद्यमान अनेकानेक उपव्यवस्थाओ में से एक है।

सबसे बडी समस्या है मिथ के सामाजिक सन्देश या अर्थ के अन्वेषण की पद्धति का निर्धारण। इस दृष्टि से मिथ का अध्ययन एक उलझन उत्पन्न करता है। यह विचित्रताओं और विसगतियों का पुज प्रतीत होता है। इसमें कुछ भी घटित हो सकता है—होता है। तर्क और सगति से इसका सम्बन्ध या तो बहुत स्वल्प होता है या दूर का भी नही होता। लेकिन वास्तविकता का दूसरा पहलू भी है। विचार करने पर इसकी वस्तु और घटना-सयोजन की अव्यवस्था या यादृच्छिकता भ्रामक प्रतीत होती है। इसका एक प्रमाण विश्व के विभिन्न भागो के मिथो का अद्भुत साम्य है। आवश्यकता इस बात की है कि इसके पहले पहलू के साथ इसके दूसरे पहलू की सगति ढूँढी जाये। कभी भाषा भी यादृच्छिक और अव्यवस्थित प्रतीत होती थी, लेकिन आज भाषा का एक विज्ञान है। यह बात एक सकेत का काम दे सकती है—वह यह कि मनुष्य का चिन्तन अपनी प्रकृति से ही गठनात्मक है। इसका अर्थ यह है कि उस चिन्तन को मिथ में भी उतना ही गठित होना चाहिए जितना कि विज्ञान में। वस्तुत मूल प्रश्न उस विधि की खोज का है जो मिथ की तार्किक सगति की पहचान दे सके।

सस्कृति का अध्ययन करते समय लेवी-स्त्रास ने यह अनुभव किया कि एक ही विधि से इसके सभी रूपों का विश्लेषण सम्भव नही। मिथ की भाषा सस्कृति के अन्य रूपो की भाषा से अलग है। इसे पढने के लिए इसके स्वतन्त्र वैचारिक गठनो का अन्वेषण किया जाना चाहिए। इसी अन्वेषण के क्रम मे उसने यह परिलक्षित किया कि मिथ दो प्रकार की सहवर्ती इकाइयो की निर्मिति है। पहले प्रकार की इकाइयाँ ऐतिहासिक या कालक्रमिक है और दूसरे प्रकार की सकालिक। पहली अप्रतिवर्ती है तो दूसरी प्रतिवर्ती। ओडीपस कथामाला मे स्पार्तोगाई एक दूसरे का वध करते है ओडीपस अपने पिता लेब्रोस का वध करता है और इतिअक्लीज अपने भाई पालनाइसीज का। ये तीनो कालक्रमिक

घटनाएं हैं किन्तु इनका एक ही विषय—स्वगम्बन्ध के मामा से बच—से सम्बन्ध है। (लेवी-स्ट्रास इस विषय को स्वगम्बन्ध का अवमूल्यन कहता है।) इन घटनाओं को ऐतिहासिक क्रम या कालिक रूप में न देख कर इन सम्बन्ध के रूप में देखा जा सकता है। इस रूप में देखने पर इन्हें एक 'स्यून गुच्छ' कहा जायगा जो समान अभिप्राय वाले सम्बन्धों का एक गुच्छ है। प्रत्येक मिथ में इस प्रकार के अनेक गुच्छ होते हैं जिनकी पहचान, विश्लेषण और अर्थान्विति के आधार पर इनके द्वारा प्रेषित सन्देश को समझा जा सकता है। यह भी उल्लेख्य है कि विभिन्न गुच्छ का आधार-सम्बन्ध कई आधारों से व्यक्त हो सकता है अर्थात उसमें रूपान्तरण की क्षमता विद्यमान है। इसका अर्थ यह है कि एक विशेष अभिप्राय रखने वाली घटनाओं या गुणों की आवृत्ति द्वारा एक सम्बन्ध या गुच्छ की रचना होती है। आवृत्तियाँ मिथ के गठन की विशेषता हैं, क्योंकि इनका काम मिथ के गठन को प्रत्यभिज्ञेय बनाना है। (१९६३ २२९)

मिथ के व्यावहारिक गठनात्मक विश्लेषण की दृष्टि से लेवी-स्ट्रास का 'आसदीवाल की कहानी' (१९६३) विशेष रूप में उल्लेखनीय है। यह कहानी एक तिसमशियन (रेड इण्डियन) कथा है जो बोआज द्वारा १८९५ ई० में सकलित हुई थी। बोआज ने क्रमशः १९०२, १९१२ और १९१६ ई० में इसके तीन अन्य रूपान्तरों का भी संकलन किया था। लेवी-स्ट्रास इस निबन्ध में इसके सभी रूपान्तरों का गठनात्मक विश्लेषण करता है और मिथ सम्बन्धी कम निष्कर्षों की स्थापना करता है जो सामान्य सैद्धान्तिक महत्त्व रखते हैं।

लेवी-स्ट्रास के अनुसार मिथ के अनेक स्तर हैं। उसका हर स्तर वास्तविकता का यथारूप अंकन नहीं है इसलिए बोआज की तरह मिथ के आधार पर किसी जाति के जीवन, समाज व्यवस्था, धार्मिक धारणाओं और आचरणों का वर्णन" (तिसमशियन माइथालाजी १९१६ ३२) करना एक सीमा तक ही युक्तिसंगत है। मिथ का सम्बन्ध आनुभविक तथ्यों से है किन्तु यह उनका एक प्रस्तुतीकरण मात्र नहीं है। कुछ स्थितियों में इसके विवरण वास्तविकता के ठीक विपरीत पड़ते हैं क्योंकि तथ्य और मिथ का सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक प्रकृति का है। उदाहरणार्थ, आसदीवाल की कहानी के चार स्तर हैं—भौगोलिक, प्राविधिक—आर्थिक, सामाजिक और ब्रह्माण्डिक। पहले दो स्तर यथार्थ के सही अंकन हैं लेकिन चौथे का यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है और तीसरे में यथार्थ और कल्पना का मिश्रण है। प्रत्येक स्तर की प्रकृति स्वतन्त्र है। उसके अपने संकेत हैं और उसे दूसरे स्तर के सन्दर्भ के अभाव में भी समझा जा सकता है। लेकिन ये स्तर असम्बद्ध नहीं हैं और ये अपनी सीमा में उसी सन्देश का सम्प्रेषण करते

है जो पूरी कहानी का लक्ष्य है। इस आधार पर मिथ की संरचना मात्र का दो पक्षों में विभाजित किया जा सकता है—अनुक्रम और योजना। अनुक्रम मिथ का व्यक्त पक्ष—कालक्रम में घटनाओं के परम्परानुगमन का पक्ष—है। यह अनुक्रम इसके हर स्तर पर विद्यमान है और इसके सभी स्तर एक दूसरे पर अध्यारोपित हैं। किन्तु सबों की अवस्थिति समक्रमिक हैं और सबों के अनुक्रम योजना के अनुरूप सज्जित। ये स्तर "अनेक कंठों के लिए रचित गीत" के समान हैं' जो गीत) दो आयामों के प्रतिबन्धों द्वारा नियन्त्रित हैं—पहले स्वयं अपनी लय रेखा द्वारा जो कि क्षैतिज है, और दूसरे सुरसंगतिज विन्यास द्वारा जो कि लम्बाकार है।" (१९६७ १७)[१]

आसदीवाल का कहानी का विश्लेषण हो या मिथ का सिद्धान्त निरूपण—लेवी-स्त्रास सर्वत्र हीगेल और मुख्यतः कार्ल मार्क्स के द्वन्द्ववाद से प्रभावित रहा है। वह स्वयं इस बात का उल्लेख करता है, किन्तु वह फ्रायड के मनोविश्लेषण से भी अपनी विचारपद्धति की संगति ढूंढ लेता है।[२] एक अर्थ में मार्क्सवाद मनोविश्लेषण और भूविज्ञान से भिन्न नहीं है। तीनों व्यक्त वास्तविकता को असली वास्तविकता नहीं मानते और यह मान्यता मिथ को समझने का सबसे महत्वपूर्ण सूत्र है। मिथ को समझने के लिए इसकी आन्तरिक प्रकृति का विश्लेषण करना होगा और यह विश्लेषण द्वन्द्ववाद की पद्धति से ही सम्भव है। मिथ भी परस्पर-विरोधी गठनों की रचना है। यह द्वन्द्व इसके प्रत्येक स्तर पर विद्यमान है। प्रत्येक स्तर पर एक द्वन्द्व का समाधान दूसरे द्वन्द्व को जन्म देता है और दूसरे का समाधान तीसरे का। द्वन्द्व के रूपान्तरण की यह प्रक्रिया इसके अन्त तक चलती रहती है। जैसे, आसदीवाल की कहानी में ऊपर और नीचे, पृथ्वी और

---

१ द स्ट्रक्चरल स्टडी आव मिथ एण्ड टोटमिज्म सम्पादक—एडमण्ड लीच १९६७ लन्दन।

२ (क) मार्क्स का अध्ययन मेरे लिए बड़ा मोहक था। एक पूरी दुनिया मेरे सामने उद्घाटित हो गयी थी। मेरा उत्साह कभी मन्द नहीं पड़ा है, और मैं लुई बोनापार्ट का अठारहवां ब्रूमेयर या राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा के पृष्ठ दो पृष्ठ पढ़े बिना समाजविज्ञान या जातिविज्ञान की किसी समस्या पर शायद ही विचार करता हूं। (ए वर्ल्ड आन द वेन १९६१ ६१)

(ख) फ्रायड की रचनाओं ने मेरे सामने यह स्पष्ट कर दिया कि हम जिन्हें प्रति-वाद (ऐंटी-थीसिस) कहते हैं वे वस्तुतः प्रति-वाद नहीं हैं। क्योंकि वही कार्य जो नितान्त भावात्मक प्रतीत होते हैं, वही परिणाम जो कम से कम तार्किक लगते हैं और वही उपपत्तियां जिन्हें हम प्राक्-तार्किक कहते हैं सचमुच वे (वस्तुएं) हैं जो सर्वोच्च रूप में अर्थपूर्ण हैं। (वही ५९)

आकाश समुद्र और पर्वत जल और स्थल दैनिक आवास और नारगान्य और सम्पूर्ण आवास एक विवाह और बहु विवाह आदि विरोधियों का योजना मिलना है और मानवशास्त्री द्वन्द्वात्मक के अनुसार उनकी सामान्य परिणति था। वस्तुतः मिथ का काम ही संस्कृति का आधारभूत मान्यताओं और आधार शक्यता के अन्तर्विरोधों का निरूपण और निराकरण करना है। यह कहा जा सकता है कि द्वन्द्वात्मक का यह प्रयोग सभी मिथों का एक मिथ बना देता है। लेकिन यही बात दूसरे विज्ञानों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है क्योंकि हर विषय में संरचना की समान कोटियाँ मिलती हैं। सच तो यह है कि लेवी-स्त्रॉस से पहले मिथिक-सामग्री में इस रूप में व्यवस्था का खोज का प्रयत्न नहीं हुआ। वह विलक्षण मिथ या आख्यानों का कहानी के आन्तरिक गठन का उद्घाटन जिस रूप में करता है उससे यही अनुभूति होती है कि वह गठन उसकी कल्पना नहीं है वरन् विचारित कथा की अनिवार्य विशेषता है। उसके मिथ का व्यावहारिक विश्लेषण करने वाले उसके निबन्धों का पढ़न के बाद कोई भी व्यक्ति यह स्वीकार करेगा कि इस जाति की रचनाएँ न तो अबोधित हैं और न अव्यवस्थित। लेवी-स्त्रॉस बार-बार इस बात का उल्लेख करता है कि मिथिक प्रतीकात्मकता गणितिक प्रतीकात्मकता के समकक्ष है और यह कि वैज्ञानिक चिन्तन के दो भिन्न प्रकार हैं जो क्रमश गणित और मिथ या गणित और जादू के रूप म व्यक्त होते हैं। (द सवज माइण्ड १९६६ ५) मिथिक चिन्तन की वैज्ञानिकता के एक अन्य प्रमाण के रूप में वह यह कहता है कि किसी भी मिथ के सभी रूपान्तर समान रूप में सगत होते हैं। जब एक संस्कृति का मिथ दूसरी संस्कृति में प्रवेश करता है तब वह अकिंचन और विकृत होने लगता है किन्तु उसके परिवर्तन या रूपान्तरण की एक वैसी सीमा आती है जब वह व्युत्क्रमित हो जाता है और अपनी सुस्पष्टता आंशिक रूप म पुन प्राप्त कर लेता है। (१९६७ ४२) इसे प्रकाश विज्ञान के आधार पर भी समझा जा सकता है। जब तक कोई वस्तु किसी बड़े छिद्र से अवलोकित होती है तब तक वह स्पष्ट रहती है लेकिन छिद्र के छोटे होते ही वह अस्पष्ट हो जाती है और उसके सुई की नाक की सीमा तक छोटा होते ही वह व्युत्क्रमित एवं स्पष्ट हो जाती है।

वह इस व्युत्क्रमण को भारोपीय सिंड्रेला कथा और उसके रेड इण्डियन रूपान्तर की तुलना द्वारा प्रमाणित करता है —

लिंग	यूरोप	अमरीका
	स्त्री	पुरुष
पारिवारिक स्थिति	दुहरा परिवार (पुनर्विवाहित पिता)	कोई परिवार नहीं

रूप	सुन्दर लडकी	कुरूप लडका
भावात्मक स्थिति	उसे कोई पसन्द नही करता	लडका के प्रति अतस प्रेम
रूपान्तरण	अतिप्राकृत शक्तियो की सहायता से सुन्दर वस्त्रों से सज्जित	अतिप्राकृतिक शक्तिया की सहायता से कुरूपता से मुक्ति

[१९६३ २२६]

सिमशियन आसदावाल की कहानी के तिलगिन हदा रूपान्तर में भी यही यत्रक्रम मिलता है।

लेवी-स्त्रॉस यह नही कहता कि मिथिक गठन चेतन ज्ञान है बल्कि यह कि व सामान्यत अवचेतन है। इनकी तार्किकता सजग रूप में योजित नही है वरन् वह उस मानवीय चिन्तन प्रक्रिया का परिणाम है जो आदिम युग से प्राय अपरिवर्तित रहा है। मिथिक चिन्तन में तर्क का रूप उतना ही कठोर है जितना आधुनिक विज्ञान में। (१९६३ २३०)। प्रगति मानस की 'अपरिवर्तित और अपरिवर्तनीय शक्तियों' (वही) का विकास न होकर उसका नये क्षेत्रों में विनियोग भर है। उसने आदिम और गैर आदिम मानस की बुनियादी एकता को प्रमाणित करने के लिए एक पूरी पुस्तक लिखी है—द सवेज माइण्ड।

मिथ के गठनात्मक विश्लेषण का यह कार्य पर्याप्त विचारोत्तेजक है और इसके आधार पर आदिम और गैर आदिम लोकसाहित्यिक और शिष्टसाहित्यिक —हर प्रकार की सामग्री का विश्लेषण किया जा सकता है। एडमण्ड लीच (१९६१ १९६२) ने इसके आधार पर बाइबिल की "बुक आव जेनेसिस का विश्लेषण किया है। अपने देश में मिथो और मिथिक अभिप्रायों से युक्त कथाओ का विशाल भण्डार है जिनका इस दृष्टि से अध्ययन किया जा सकता है। इस पद्धति की उपयोगिता का हल्का सकेत श्रीमद्भागवत की सुद्युम्न की कथा (नवम स्कन्ध प्रथम अध्याय) के केवल एक अभिप्राय गुच्छ (आवर्तक अभिप्राय की एक सघटक इकाई) के निर्देश द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है —

वाद (थीसिस)	प्रति-वाद (एँटी थीसिस)	युक्तवाद (सिनथीसिस)
स्त्री से पुरुष (मनु की प्रार्थना पर वशिष्ठ द्वारा इला को सुद्युम्न बना देना)	पुरुष से स्त्री (आखेट के लिए वन में प्रवेश करते ही सुद्युम्न का पुन स्त्री हो जाना)	स्त्री और पुरुष दोनो (शिव की यह व्यवस्था कि सुद्युम्न एक महीने तक स्त्री और एक महीने तक पुरुष रहेगा।)

जैसा कि लेवी-स्त्रास ने कहा है मिथविज्ञान में रूपात्मक विश्लेषण तत्काल अर्थ की समस्या उत्पन्न करता है। उसने स्वयं अपने द्वारा विश्लिष्ट मिथों के अर्थ या सन्देश का निर्धारण किया। यह प्रश्न किया जा सकता है कि वह किसी मिथ का जो सन्देश निर्धारित करता है क्या वही उसका वास्तविक या एकमात्र सन्देश है? यह पूछा जा सकता है कि क्या कविता की तरह मिथ में अर्थ के अनेक स्तर नहीं होते या हो सकते? यह सही है कि मिथ कविता नहीं है और दोनों में महत्वपूर्ण भेद है जैसे यह कि कविता का कवित्व अनुवाद में नष्ट हो जाता है जब कि मिथ का मिथत्व रद्दी-से रद्दी अनुवाद में भी सुरक्षित रह जाता है।' (१९६३ २१०) लेकिन वह स्वयं यह लिखता है कि मिथ गहरी सौन्दर्यानुभूति उत्पन्न करने वाली कलाकृति है। तो क्या इसका अभिप्राय यह नहीं होता कि मिथ में कविता की तरह एक जटिल और वविध्यपूर्ण अर्थविधान मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए उसके द्वारा प्रवर्तित पद्धति के पूर्णतर विकास की प्रतीक्षा करनी होगी।

विवादों के अन्तराल से सम्पन्न यह विचारयात्रा मिथ को देखने के बहुवर्णदर्शी का काम दे सकती है।

इतिहास की दृष्टि से यह सही हो सकता है कि मिथ किसी आदिम मानस से उत्पन्न है। कासिरर ने भाषा और फ्रायड ने मानस के विश्लेषण द्वारा इसे प्रमाणित किया है और शाश्वतवादियों की तरह मानव प्रकृति को अपरिवर्तनीय मानने का कोई औचित्य नहीं है। लेकिन मिथ को समकालीन आदिम जातियों के मनोविज्ञान की स्वाभाविक स्थिति के रूप में प्रस्तावित करना असंगतिपूर्ण है। युग जो दुर्खीम और लेवी-ब्रूल की सामूहिक चेतना धारणा से प्रभावित हैं और उनकी तरह ही एतिहासिक आदिम मनुष्य और समकालीन आदिम जातियों में समानान्तरता की कल्पना करता है यह कहता है— आदिम मानस मिथों का आविष्कार नहीं करता वह उनको अनुभव करता है। × × × (मिथ) आदिम जाति का मानसिक जीवन है।' (१९५९ १५४) किन्तु जिन मानववैज्ञानिकों ने इस प्रकार की धारणाओं का समर्थन किया है उन्होंने भी यह परिलक्षित किया है कि आदिमजातीय मनुष्य प्राविधिक आर्थिक विषयों में हमसे किसी भिन्न अर्थ में व्यावहारिक या बौद्धिक नहीं है। इतना ही नहीं वह हमारी ही तरह सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति और बौद्धिक प्रखरता से सम्पन्न है। वह अपने परिवेश के विभिन्न जीवों और वनस्पतियों का व्यवस्थित वर्गीकरण करता है—उनके अंगों उपांगों और घाट-से-घाट भेद को भी संज्ञा देता है। वस्तुतः स्वभाव और मानसिक क्षमता की दृष्टि से सभी मानव जातियाँ एक-जैसी हैं। अतएव आदिम और

आधुनिक मनुष्य का अलग अलग वर्गों म रख कर दखने की प्रणाली ही गलत ह। वज्ञानिक चिन्तन मानस का केवल एक रूप है और जिसे वैज्ञानिक या आधुनिक मनुष्य कहा जाता ह, वह विचार की सुविधा के लिए बनाया गया एक माना भर है। विशुद्ध वैज्ञानिक या बौद्धिक मनुष्य का कहीं अस्तित्व नहीं। यदि समकालीन आदिम मनुष्य के बहुत-स काय प्रयोजनहीन या निरथक प्रतीत होते ह तो क्या हम स्वय अपने धम, कला आदि की कोई प्रयोजनमूलक व्याख्या कर सकते ह ? हमारे द्वारा निर्मित प्रगति का मापदण्ड स्वय हमारी सस्कृति के बहुत-स विषयो को मापने में असमथ ह। यदि वतमान शताब्दी की नानात्मक उपलब्धियो के अभाव में भी कालिदास या अजन्ता के कलाकार पदा हो सकते ह और भी साथकता की अनुभूति उत्पन्न कर सकते ह तो क्या इसका अभिप्राय यह नही कि मनुष्य में वास्तविकता के नानात्मक बोध के समानान्तर कोई दूसरी प्रक्रिया भी विद्यमान ह ? जब तक यह स्वीकार नही किया जाता कि मानस का मिथिक और वैज्ञानिक दो प्रक्रियाएँ ह जो समान रूप में सगत और महत्व पूर्ण ह, तब तक बहुत सी बातो की व्याख्या नहीं की जा सकती। यह कहना नहीं हो सकता ह कि वैज्ञानिक प्रक्रिया मिथिक प्रक्रिया की परवर्ती ह (आवश्यक नहीं कि यह सही हो हो), किन्तु यह बात सही नही ह कि सस्कृति के विकास की अगली स्थिति में वह मिथिक प्रक्रिया को रद्द कर देगी। युग ने यह कहा ह कि आद्यप्ररूपों का कोई बौद्धिक स्थानापन्न सम्भव नही ह ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अनुमस्तिष्क या गुर्दे का कोई बौद्धिक स्थानापन्न सम्भव नहीं। (१९५६ X X।) यही बात मिथ क सम्बन्ध में भी कही जा सकती ह। वस्तुत मनुष्य क अस्तित्व से सम्बन्धित अनेक वस प्रश्न और जिज्ञासाएँ है जिनका उत्तर देना विज्ञान के लिए भी सम्भव नहीं हो सका ह। सृष्टि का स्वरूप जीवन और मृत्यु आदि विषय पहले जितने रहस्यमय थे, अब भी उतने ही या उससे कहीं अधिक रहस्यमय हैं। ज्ञान के विस्तार क अनुपात म ही अज्ञात और गूढ़ विषयों की तालिका बढ़ती जा रही ह। सापेक्ष रूप में यह स्थिति पूर्वकाल से अब तक अपरिवर्तित ह। मानवीय बोध का यही क्षेत्र—हम इसे चाहे जो भी सना दें—धम और मिथ को जन्म देता ह। इसका अथ केवल यह नहीं कि मिथ विज्ञान का सीमान्त ह, वरन इससे कहीं अधिक यह कि यह वास्तविकता के बोध का वह प्रकार है जिसका कोई तुलनीय वज्ञानिक विवरण सम्भव नहीं। वह प्रकार भावात्मक और सहानुभूतिक ह जो वस्तु को स्वय उसकी अपेक्षा में न देख कर द्रष्टा के अह की अपेक्षा में देखता ह। इसके मूल में परिवेश से जुड़ने और उसे आत्मसात कर अपनी चेतना का अग बनाने की प्रेरणा काम करती है। मानवीकरण और प्रकृतिकरण इसी प्रेरणा क दो रूप ह। अन्यथा कोई कारण नहीं

कि मनुष्य क्या अपने को प्रकृति पर और प्रकृति को अपने पर आरोपित करता या एक को दूसरे में रूपान्तरित करता है। यह प्रवृत्ति सुदूर अतीत से ही इतनी प्रबल रही है कि उसकी अनेक कहानियाँ इतिहास और रूपक दोनों हो गयी हैं और व्याख्या भेद से उन्हें इस या उस वर्ग में रख दिया जाता रहा है। उदाहरणार्थ यदि राम रावण युद्ध को प्राकृतिक संकेतों के समावेश (प्रकृतिकरण) के बावजूद इतिहास माना जाये तो वह आख्यान है और यदि इन्द्र-वृत्र युद्ध का मानवीकरण, तो मिथ।[1]

मानस के मिथिक रूप को उसके वैज्ञानिक रूप से भिन्न मानने का अर्थ यह नहीं कि यह प्राक्-तार्किक अथवा अबौद्धिक है। यदि यह वास्तविकता को भिन्न रूप में व्यक्त करता है तो इसका अर्थ यही है कि यह उसका भिन्न रूप में ही बोध कराता है। मनोविश्लेषण और गठनात्मक मानवविज्ञान के कार्यों की समीक्षा के बाद यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होना चाहिए कि इसकी अपनी विशेष तर्कपद्धति है जो विज्ञान से कम व्यवस्थित नहीं है। यही बात अब कविता के सन्दर्भ में एम० बुकानन द्वारा स्पष्ट की जा चुकी है। वह कविता और गणित (पोयट्री एण्ड मैथमैटिक्स) में मानस की आन्तरिक एकता पर अद्भुत प्रकाश डालता है और पूरे ब्यौरे में जाकर यह सिद्ध करता है कि साम्य अनुपात और समानुपात कविता और गणित दोनों के प्राण-केन्द्र हैं। (१९ २ २५ २६)

मिथ की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के विश्लेषण को एक सीमा तक ही सामाजिक भूमिका से अलग रखा जा सकता है। यह सही है कि यह प्रतीकीकरण की प्रक्रिया का व्यक्त रूप है और यह प्रतीकीकरण इसके सन्दर्भ में, मुख्यत अवचेतन है किन्तु यह सामाजिक वास्तविकता द्वारा प्रेरित और निर्धारित है। मिथ सामाजिक अभिप्रायों के सम्प्रेषण का एक महत्वपूर्ण साधन हैं। उत्सव अनुष्ठान विश्वास आदि के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है और यह मुख्यत अनुष्ठान के साथ एक सम्मिलित इकाई की रचना करता है। इस बात के प्रमाण प्राचीन और आदिम जातियों के जीवन-सन्दर्भ में सुलभ हैं। कभी आनुष्ठानिक कृत्य मिथ के नाट्यरूप में आयोजित होते हैं और कभी

---

१ वृत्र (मेघ) उषा का हरण करता है और इन्द्र (विद्युत) अग्नि की सहायता से वृत्र का वध करता है। इसी तरह, रावण सीता का हरण करता है और राम लक्ष्मण की सहायता से उसका वध कर सीता को मुक्त करते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर राम रावण युद्ध इन्द्र वृत्र युद्ध या मेघ विद्युत् युद्ध का मानवीकरण हो जाता है।

अनुष्ठान में मिथ का पाठ केन्द्रीय कृत्य हो जाता है। सच तो यह है कि जिन अभिप्रायों को अनुष्ठान कृत्यों के माध्यम से प्रेषित करते हैं उन्हें ही मिथ शब्दों के माध्यम से।

मलिनाव्स्की में मिथ की इस सामाजिक भूमिका का प्रामाणिक और अर्थपूर्ण विवेचन मिलता है। परवर्ती मनोविश्लेषण भी मानस और उसकी अभिव्यक्तियों की व्याख्या समाज की भूमिका में करता है। हार्नी फ्रोम और सुलिवान जो मूलतः फ्रायडवादी रहे हैं, फ्रायड की सहज प्रवृत्तियों और लिबिडो की व्याख्या से सहमत नहीं हैं। वे मनुष्य के भाव संकुलों और उसकी पूरी प्रकृति को संस्कृति की रचना मानते हैं। वे यह कहते हैं कि मानव प्रकृति को इतिहास के अंग के रूप में देखने की आवश्यकता है न कि अपरिवर्तनीय और विशुद्ध जैविक परम्परा के रूप में। किन्तु संस्कृति का—दूसरे शब्दों में, अन्तरवैयक्तिक सम्बन्धों को—मिथ की प्रेरणा मानने का अभिप्राय यह होना चाहिए कि इसकी अन्तर्वस्तु चेतन है—यह उन प्रवेगों की रचना है जो सामाजिक संदर्भ में प्राथमिक महत्व रखते हैं। सेमर पार्कर[1] के एस्किमो और आजिब्वा मिथों के परीक्षण द्वारा लब्ध निष्कर्ष इसका समर्थन करते हैं।

अपने निबन्ध (मार्टिन्स इन एस्किमो ऐण्ड आजिब्वा माइथालॉजी) में पार्कर ने लज़ारसंद्रय (१९५७) की इस मान्यता का उल्लेख किया है कि जिस व्यक्ति में पर्याप्त आत्मनियन्त्रण शक्ति होती है वह फन्तासी की सामग्री के रूप में मानसिक ऊर्जा का उत्सर्जन नहीं करता। इसका अर्थ यह होना चाहिए कि जिस समाज में यह नियन्त्रण शक्ति प्रबल नहीं है उसके मिथों में प्रबल आकांक्षाएँ व्यक्त होंगी। पार्कर ने इस बात की जाँच के लिए एटकिनसन और मैकलीलैण्ड (१९५८) के वैषयिक बोध परीक्षण (थीमेटिक अपरसप्शन टेस्ट) की लब्धांक की पद्धति का उपयोग किया है। इस पद्धति में तीन प्रेरणाओं का आधार रूप में स्वीकार किया गया है—उपलब्धि प्रेरणा, शक्ति प्रेरणा और सम्बन्ध प्रेरणा। आजिब्वा समाज में पहली दो प्रेरणाएँ बहुत प्रबल हैं। इसका परिवेश पारस्परिक स्पर्धा और सन्देह का है। इस समाज में बालक को आरम्भ से ही कठोर सामाजीकरण द्वारा प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष के लिए तैयार किया जाता है। इसके विपरीत, एस्किमो समाज में सहयोगात्मक और सामूहिक मूल्यों पर अधिक बल दिया जाता है, इसलिए इसमें बहुत कम सामाजीकरण की अपेक्षा का अनुभव किया जाता है। इस समाज में व्यक्ति के गुणों का सम्मान है लेकिन व्यक्तिगत शक्ति सम्मान या उपलब्धि के लिए प्रोत्साहन को बहुत कम प्रश्रय दिया जाता

---

१ एथनालाजी १९६२ खण्ड १, सं ४ ४१९—४२३

प्रयोजनमूलक व्याख्या न कर सकें, किन्तु अपना अन्तिम विश्लेषण में वह सामाजिक अभिमुखता से युक्त अनुभूति है। इसी वहत्तर अर्थ में कविता, मिथ और कला की सृजनात्मक भूमिका में साम्य है। मिथ में अस्तित्व के प्रश्नों का समाधान, सृजनात्मक ऊर्जा के क्षणविशेष में, अपने बहुविध सम्बन्धों के साथ उजागर हो जाता है। ये प्रश्न युगविशेष के सामाजिक आर्थिक समायोजन में भी होते हैं और व्यापक रूप में वमे भी जो सृष्टि के सदस्य के रूप में मानव जाति को व्याकुल करते रहे हैं, जैसे—जीवन और मृत्यु, सृष्टि की उत्पत्ति और वैचित्र्य इत्यादि। कुछ प्रश्न मानवीय चिन्तन की व्यवस्था में आवर्तक महत्व पा गये हैं, कुछ प्रश्न इतिहास की यात्रा में मिलते और समाधान पाकर तुष्ट हो जाते रहे हैं।

भाषा की तरह संस्कृति का भी एक अर्थ विधान है। शब्दों के अर्थ की तरह सामाजिक संस्थाओं के अर्थ का भी रिक्तीकरण हुआ करता है। जब तक मिथ (या अनुष्ठान) द्वारा व्यक्त सत्य सामूहिक धरातल पर अनुभूत होता रहता है तब तक इसका अर्थ स्पष्ट रहता है। लेकिन सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति के परिवर्तन के साथ ही इसका अभिप्राय धूमिल होने लगता है और यह रचनात्मक के बदले उपचार या रूढ़ि बन जाता है। तब यह अपनी जन्मदात्री संस्कृति के सदस्यों को भी दुर्बोध प्रतीत होने लगता है और इसकी नयी व्याख्या एक अनिवार्यता हो जाती है—यह बात दूसरी है कि इसकी यह नयी व्याख्या विचित्र या यादृच्छिक प्रतीत हो। मूल जीवन सन्दर्भ से दूर पड़ गये मिथ में नये-नये अर्थों का आरोपण किया जाने लगता है। समायोजन और अनुकूलन संस्कृति का स्वभाव है, और परिवर्तित सन्दर्भ में बने रहने के लिए मिथ को अपना अर्थ संशोधित या परिवर्तित करना होता है। इस प्रकार इसका अर्थ, जो कभी सुनिश्चित रहा होगा, एक 'मानो' (ऐज इफ) बन जाता है। संस्कृति की अधिकतम सामग्री पारम्परिक होती है, अतएव वैसे मिथों की संख्या बहुत अधिक है जो सदियों से परिवर्तित सन्दर्भों में, पुनर्व्याख्यायित होते रहे हैं। यही कारण है कि युग को उनके अर्थ के सम्बन्ध में यह कहने की सुविधा मिल जाती है कि वह सदैव एक 'मानो' है। किन्तु इस उत्प्रेक्षावाद को मिथ का जन्मजात या तात्विक स्वभाव मानना सही नहीं है।

आदिम नाटक

वाल्ट हिटमन न एक कविता में अपन पाठका स यह कहा ह— आज दिन और रात भर साथ रह जाओ और तुम सभी कविताओं का मूल जान जाओग । आदिम नाटक अपन दशका और अध्यताओं का साहित्यिक नाटको क मूल की जानकारी के सम्बन्ध में बहुत कुछ एसा ही आश्वासन द सकत ह । यह सच ह कि आज की आदिम जातियाँ ईसवी सन स कई शताब्दी पूर्व की आदिम जातियाँ नही ह । व भी परिवर्तित होती रही ह । जो आदिम जातियाँ पिछली कई शताब्दियों स आदिम जातियाँ बनी रह गयी ह उन्हें परिवतन क नियम का अपवाद न मानत हुए भी उनमें परिवतन की गति को अपेक्षाकृत मद मानना असगत नही ह । इसीलिए जो जातियाँ उनस आग बढी ह और शिष्ट साहित्य का विकास कर सकी ह, उनके साहित्यिक कह जान वाल नाटको के पूर्व रूप को समझने में आदिम नाटक सहायक सिद्ध हो सकत ह ।

संस्कृत में नृत्य स नाटक का सम्बन्ध (या विकास) स्वीकार किया गया है । दोनो की व्युत्पत्ति एक ही नृत्य या नट धातु—से मानी गयी ह । दोनो की यह घनिष्ठता आदिम जातियों के अभिनयमूलक प्रदशनो द्वारा भी सूचित होती ह । उनमें एक ओर नृत्य और अभिनय ह तो दूसरी ओर नृत्य गीत और अभिनय एक सम्मिलित और अविभाज्य इकाई की रचना करत ह । आदिम जातीय नाटको का सामान्य अभिप्राय या तो नृत्य नाटक ह या संगीत (गानि नाटय) आस्ट्रेलिया की अरटा जाति अपन नृत्यों म कगारुओ क युद्ध का अभिनय करती ह और अमरीका की टीरा डल फ्यूगो जाति आखट पशुओ की ध्वनि, आकृति और गति का । दक्षिण आस्ट्रेलिया के नारिनयारी कबील के कोरोबारी नृत्य नाटक के बहुत समीप ह । कोरोबोरी का गायन नृत्य के साथ होता ह जिसका लक्ष्य या तो उल्लास या युद्धोचित आवेश या किसी अन्य भावना का अभिनय करना ह ।[1] इस प्रकार के प्रदशन पूर दल द्वारा भी सम्पन्न हो सकत ह और एक व्यक्ति द्वारा भी । पिग्मी जाति (अफ्रीका) के अनेक नाटको म एक ही व्यक्ति किसी आख्यान या मिथ के सभी पात्रों का अभिनय करता ह ।

किन्तु, आदिम जातियों के बीच वसे नाटक भी प्रचलित ह जिनका गठन बहुत कुछ साहित्यिक नाटको के समीप ह । उन नाटको का रूप आनुष्ठानिक ह ।

---

१ द फोक्लोर, मनस कस्टम्स एएड लग्वज आव द साउथ ऑस्ट्रेलियन अबआरिजिनल्स (१७८९) पुनमुद्रण ९६७ १ ७

यह उल्लेख आवश्यक ह कि उनकी सभी नृत्यात्मक, नृत्य-गीतात्मक और आनुष्ठानिक अभियक्तियाँ नाटक नही हैं। केवल वे ही अभिव्यक्तिया नाटक ह, जिनमें पात्र आत्माभियजना की भूमिका में नही वरन् अपने से भिन्न व्यक्तियो की भूमिका में काय करते हैं और जिनमें भाग लेने वाले पात्रा के अतिरिक्त उनके दर्शकों में भी इस बात की चेतना बराबर बनी रहती ह। इस चेतना का सर्वोच्च रूप आनुष्ठानिक नाटका म मिलना ह, जिनमें किसी मिथ की घटनाग्रा का पुन प्रस्तुतीकरण होता है और जिनके अभिनेता उसके मूल पात्रा के वास्तविक प्रति रूप मान लिये जाते ह। सामान्य अनुष्ठाना स आनुष्ठानिक नाटकों का यह भेद भी ध्यान दने योग्य ह कि उनमें अनुष्ठान क्रमश गौण होने लग जाता ह, क्याकि वह अभिनय द्वारा नियन्त्रित और अशतया परिवर्त्तित होने लग जाता ह और एक स्थिति आ सकती ह जिसमें वह एकदम गौण हो जाय।

इस बात पर आश्चय स्वाभाविक ह कि सुविकसित आदिम नाटकों में से अधिकतम का स्वरूप धार्मिक या आनुष्ठानिक ह। आदिम संस्कृति की जानकारी इसका सतोषजनक समाधान प्रस्तुत कर सकती ह।

अनुष्ठाना और आनुष्ठानिक नाटका का सम्बन्ध जीवन की उन्ही स्थितियो से ह, जिनमें सफलता, अपक्षित होते हुए भी, सायोगिक और अनिश्चित हुआ करती ह। जहाँ सफलता अपने कौशल पर निभर ह और इसीलिए विश्वास्य ह, वहाँ उनकी आवश्यकता नही समझी जाती। पोट कीटस की आदिम जातिया यह कहती ह कि यदि कोई आदमी दस गज की दूरी से बछा फेंक कर वालबी (छोटा कगारू) मारता है ता यह मानवीय सम्भावना ह। इसके विपरीत यदि वह पचास गज का दूरी स यही काय करता है तो यह ऐंजेपन (अतिलौकिक शक्ति) की कृपा है। अभिप्राय यह कि वे सभी जीवन-सन्दभ और स्थितिया जो सक्रमण और सकट की ह और जिनम आशा और आशका का प्रखर दीघकालिक तथा आवतक द्वन्द्व बना हुआ ह, अनुष्ठाना आनुष्ठानिक नाटका और जादू के प्रकृत विषय हैं। जन्म, मृत्यु दीक्षा, विवाह, युद्ध और रागोपचार के सस्कारों तथा आर्थिक कृत्या स उनका बहुत समापी सम्बन्ध हैं। फिर भी उनका सबसे समापी सम्बन्ध आर्थिक विषयों स ह, जिनका आदिम मनुष्य के जीवन में अपेक्षाकृत अधिक महत्व ह। आखेट करने, फसल बोने और काटने और मछली मारने तथा इनका सुविधा उपस्थित करनेवाली ऋतुओं और अवसरा के समय उनका सम्पन्न किया जाना इसी का प्रमाण है। सामान्यत आदिम और गैरआदिम दोना प्रकार के मनुष्या की चिन्ता आत्मरक्षण और इसके लिए परिवेश के नियन्त्रण की ह। आदिम मनुष्य के पास गर आदिम मनुष्य की उन्नत प्रविधि का अभाव ह, इसलिए उसमें आर्थिक असुरक्षा का बोध अधिक प्रखर ह। वह परिवश का

नियन्त्रित करने के साधनों की सीमा की पूर्ति जादू और आनुष्ठानिक नाटकों द्वारा करता है। इससे वह भय और अरक्षा की भावना से अपने को मुक्त करने में समर्थ होता है और सफलता के विश्वास के साथ अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाता है।

आदिम नाटक के स्वरूप को कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जाता है। अमरीका और अफ्रीका की आदिम जातियों के लोक नाटक पर्याप्त विकसित और समृद्ध हैं। जीवित आदिम जातीय सदर्भ में उनके उपमान नहीं मिलते। वे एक ओर जन्म, मृत्यु, वयस्कता, रोग आदि जैसे स्थितियों से तो दूसरी ओर आखेट, फसल आदि आर्थिक चिन्ताओं से सलग्न हैं। उनमें वही प्रतीकात्मकता मिलती है, जो जादू या अनुष्ठान में। उनमें प्रतीकात्मता निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सम्पन्न वस्तुसयोजन और व्यवहारविधि के रूप में व्यक्त होती है। वह कुछ उदाहरणों में प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञेय होती है और कुछ में इतनी अप्रत्यक्ष और दुरूह कि उसकी सतोषजनक व्याख्या कठिन हो जाती है।

पावनी जाति का गर्जनात्मक नाटक बालक के दीक्षा-संस्कार के रूप में आयोजित होता है। उसमें आनुष्ठानिकता का नाटकीय पक्ष बहुत गठित और स्पष्ट है। वह आकाश में वर्षा-काल के प्रथम मेघों के गर्जन के बाद आरम्भ होता है और पुराकालीन देवों कृत्यों का अनुकरण प्रस्तुत करता है। उसके अभिनेता होते हैं निराका प्रातःतारा सांध्यतारा महाकृष्ण उल्कातारा उत्तरतारा उत्तर मेघ, सूर्य चन्द्रमा और पृथ्वी के याजक जो बारी-बारी से आगे आकर अपने-अपने देवता का पूजन सामग्री अर्पित करते हैं। अन्त में मुख्य याजक एक गीत गाता है जिसमें वह उस बालक के प्रति जिसके उत्सव का आयोजन होता है, कृतज्ञता ज्ञापित करता है। वह इस अवसर पर जो कुछ कहता है, उससे नाटक का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है

याजको हमने उस उत्सव का समापन किया है जो हमें पत्नी से मिला है। एक छोटा बालक यह उत्सव रखना चाहता था। याजको यही कारण है कि तुम लोग इस घर में आये हो और इस घर में देवताओं की जगहों पर, सीधे बैठे हो उनकी तरह हो सट-सट कर बैठे हो। तुम उनकी जगहों पर बैठे हो और हम तुम्हें वे बधाएं और विधान दे रहे हैं जिन्हें बहुत पहले उन्हीं स्थानों पर बैठे अर्थों कि तुम अभी बैठे हो पूर्ववर्ती याजकों ने पुराकाल में कहा था।

होपी जाति का पावामू अनुष्ठान बालक को दाक्षा और नव वर्ष की फसल के लिए मनाया जाता है। उसमें पावामू याजक धरती के नीचे से धान बान मुइंगू का प्रतिनिधित्व करता है। उसमें बन्द्राय महत्व सम के बाजों के वसन और मुइंगू का है। पाँचवें दिन मुइंगू (अकुरण-देवता) आता है और धान ही

खड़ा हो जाता है। कबीले के प्रधान लोग उससे पूछते हैं—"आप कहा से आये हं ?" वह कहता है—'मैं नीचे तोवानाशावे, से आया हूँ।"— 'अच्छा, यह तो कहें कि आप क्यों घूम रहे हैं ?"—"अच्छा, तोवानाशावे के लोग जमा होकर सीढी बना रहे थे। उन्होंने सीढी तैयार की वह फीरोजी लडियो से बँधी हुई थी। उसी रास्ते हम ऊपर और बाहर आये। हम पश्चिम की ओर आये। सुन्दर लाल मकई के बीजो से अंकित मार्ग पर हम चलते गये। हमने होतोतो क्तचिन प्रधान का घर देखा। घर लाल कुहासे से ढका हुआ था। इस प्रकार हम अन्दर गये। होतोतो क्तचिन प्रधान वहा था। उसी के पास सुन्दर लाल मकई के बीज, सेम, तरबूज खरबूजे थे, और वह इसी तरह वहा रह रहा था। यहा ये औरबी बालक-बालिकाएँ अलग अलग कदों की छोटी बालिकाएँ छोटे बालक, यहाँ सिपापू पर हमारे समारोहो का जानेंगे। हा, वे इन्हे जानेंगे। सुन्दर सीढी के वल्ले सुन्दर सीढी के डडे फीरोजी लडिया से सीढी में बँधे हुए। इस प्रकार हम बाहर आये।"

मुखिया अन्य दिशाओं के सन्दर्भ म इन्ही वाक्यो को दुहराता जाता ह और अन्त में यह कहता ह कि अब आनुष्ठानिक शुद्धीकरण के लिए बच्चा का यक्का चाबुको से मारा जायेगा और यक्का बीजा से उनके केश धोये जायेंगे। अनुष्ठान का समापन करते हुए वह कहता ह— इस प्रकार तुम लोग श्वेत उदय और पीत उदय (उषा या जीवन) का अनुसरण करो, इस मार्ग का अनुसरण करो, जो कि मकई क सुन्दर पराग से अंकित ह और जिस पर वृद्धावस्था के चार चिह्न (बसाखिया) खडे ह। तुम इनका सहारा लोगे और जहाँ सबसे छोटी बैसाखी खडी ह वहा बूढी स्त्रियों और बूढे पुरुषों की तरह (के रूप म) सो जाओगे। लेकिन मैं अकेला नही हूँ।' यह कह कर वह अपने साथ आये चार विदूषको का बुलाता ह जो नत्य और अभिनय करते ह।

विनबगा जाति के ओझा-नत्य का केन्द्रीय विषय मनुष्य की मरणशीलता का युक्तीकरण ह। उसम सस्कृति नायक शशक द्वारा पथ्वीस्रष्टा के आदेश की अवना से मनुष्य की मत्यु के आरम्भ और मत्यु की क्षतिपूर्ति की कथा का प्रस्तुतीकरण मिलता ह। अभिनय में कथा के मूल परिवेश की रचना मचसज्जा और मुखौटा द्वारा की जाती ह। अनुष्ठानगृह उस द्वीप-पथ्वी का प्रतिनिधित्व करता ह जा सृष्टि के आरम्भ में पथ्वीस्रष्टा द्वारा रची गयी थी। पथ्वीस्रष्टा ने पानी पर निरन्तर हिलती हुई द्वीप पथ्वी को अचल करने के लिए चार व्यक्ति भेजे थे। नाटक के चार व्यक्ति उनका प्रतिनिधित्व करते ह। आदेश भग करने के कारण मानव जाति के लिए अर्जित मत्यु के बाद शशक उनके पास गया था। इसे नृत्य या नाटक में भाग लेने वाला हर व्यक्ति अनुष्ठानगृह की परिक्रमा के रूप में पुनरा

वृत्त करता है। जिस प्रकार मूल कथा में शशक न खोकरा (राव-वम्नु-मूल) के घर से होकर दक्षिण से पूर्व की यात्रा सम्पन्न की थी, उसी प्रकार अनुष्ठानगृह के बीच में खोकरा अवस्थित रहता है और दक्षिण (सूर्यास्त के स्थान अर्थात् मृत्यु) से पूर्व दिशा (सूर्योदय के स्थान अर्थात् जन्म) की यात्रा की जाती है। इसका अभिप्राय यह होता है कि जीवन भी अन्ततोगत्वा मृत्यु से गुजर कर नवजन्म पाते रहने की वह प्रक्रिया है जो कभी भग नहीं होती।

कुछ नाटक उन घटनाओं का प्रदर्शन करते हैं, जिन्होंने मानव संस्कृति का रूप परिवर्तित कर दिया। अग्नि की उपलब्धि एक वैसी ही घटना है। पश्चिम *सूडान के जोगोन कबीले के एक आनुष्ठानिक नाटक का विषय अग्नि की चोरी* है। पहले पृथ्वी पर अग्नि नहीं थी। एक लुहार ने सूरज का एक टुकड़ा तोड़ लिया और वह उसे लेकर पृथ्वी की ओर भागा। इस क्रम में अग्नि का एक अंश नीचे गिर गया, लेकिन लुहार ने उस बर्छे से उठा लिया और भागने लगा। *सूरज ने उसे मारने के लिए वज्र फेंके जो व्यर्थ गए और वह पृथ्वी पर गोदाम* में अग्नि संचित करने में सफल हो गया। नाटक या उत्सव में एक आदमी उस पुरातन लुहार का प्रतिनिधित्व करता है। वह हाथ में मशाल लेकर मैदान के चारों ओर दौड़ता है और बीच-बीच में आग गिराता जाता है। छुरा चमकाते हुए दो मुखौटाधारी व्यक्ति, जो वज्र का प्रतिनिधित्व करते हैं, उसका पीछा करते रहते हैं। यह दृश्य तीन बार दुहराया जाता है। लेकिन अन्तिम बार वह मशालधारी व्यक्ति आग जमा करने के लिए निर्धारित स्थान तक पहुंच जाता है।

इस प्रकार के नाटकों की तुलना में रोग और आसन्न संकट से मुक्ति तथा आर्थिक कार्यकलाप से सम्बन्धित नाटकों की संख्या कहीं अधिक है अफ्रीका के ही अशान्ती कबीले में ओझा द्वारा पूर्वोक्त आसन्न संकट को दूर करने के लिए एक नाटक आयोजित होता है। कुछ ऐसे नाटक भी प्राप्य हैं, जो अपनी विविधता और सम्पूर्णता में अभिप्रायों के एक बहुत बड़े संकुल को व्यक्त करते हैं। अमरीका की प्यूब्लो (होपी, जूनी और केरस) जातियों के नाटकों का इस प्रसंग में, विशेष रूप में उल्लेख किया जा सकता है, मुख्यतः जूनी जाति के शालाको (देवताओं का आगमन) का।

शालाको अभिनय और शोभायात्रा का अद्भुत मिश्रण है। इसके विविध नृत्य वर्ष भर चलते रहते हैं। ये मकर संक्रान्ति से आरम्भ होकर वर्ष के अन्तिम मास के आरम्भिक चौदह दिनों के सार्वजनिक उत्सव में समाप्त होते हैं। शालाको के पात्रों के अभिनय के लिए जो व्यक्ति चुने जाते हैं वे अभिनय की समाप्ति तक भय और पूजा के विषय माने जाते हैं। उनका चुनाव प्रमुख देवता पाउतिवा का याजक करता है और वे जिन देवताओं का अभिनय करते हैं जनसमुदाय

क्योंकि वे वर्षा और बीज अंकुरित करते हैं। उनके नृत्य सौभाग्य और मनोरंजन के एकत्राकृत साधन हैं। जब वे आते हैं, तब उनके आवास के लिए आधा गाँव खाली कर दिया जाता है।

जूनियों के बीच इस उत्सव के सम्बन्ध में एक दूसरी कथा प्रचलित है, जो अभिनय द्वारा कतचिना के प्रतिनिधित्व की उपयुक्त व्याख्या के बहुत समीप है।

पाताल से पृथ्वी पर आने से पूर्व जूनी लोग एक जगह नदी पार कर रहे थे। बीच धारा में उनके बच्चे मेढकों और जलसर्पों में बदल गये। यह घटना होते ही महिलाएँ डर गयीं। बच्चे उनके हाथ से छूट कर पानी में गिर गये और अदृश्य हो गये। लोगों ने माताओं की सांत्वना के लिए उनकी खोज में यमल नायकों को भेजा। उन्होंने बच्चों को जो सुन्दर कतचिनों में परिवर्तित हो गये थे मधुर जल नामक स्थान के नीचे उन्हें पाया। उन्होंने माताओं को यह सूचना दी। यह निश्चय हुआ कि लोग उस स्थान पर बालकों से मिला करेंगे। लेकिन बालकों ने स्वजनों से स्वयं मिलते रहने का निश्चय किया। इसके बाद जब कभी वे ऊपर (पृथ्वी पर) आते कुछ लोगों को अपने साथ लेकर ही वापस होते। इस स्थिति से बचाव के लिए उन्होंने यह फैसला किया कि अब वे स्वयं नहीं आयेंगे बल्कि लोग उनकी वेशभूषा, नृत्य और शिरोवस्त्र द्वारा उनका अनुकरण किया करेंगे।

कतचिना में प्रधान है कायमशी जो एक ओर अलौकिक भयास्पद और पूज्य है तो दूसरी ओर सार्वजनिक मनोरंजन करनेवाले अश्लील विदूषक। पूज्य पात्रों में अश्लीलता और पवित्रता का यह द्वैध अन्य धर्मों में भी प्राप्य है। कायमशी की संख्या दस है। वे विचित्र आकृति वाले हैं। क्योंकि वे भाई और बहन के अवैध संयोग से उत्पन्न हुए हैं। कहा जाता है कि पाउतिवा के वंश याजक कातिमासी ने अपने छोटे पुत्र सीवलुसीवा को विश्व के केन्द्र का पता लगाने के लिए भेजा। सीवलुसीवा को अपने अभियान में अपनी बहन का सहयोग और साहचर्य प्राप्त हुआ। उसने अपनी बहन के साथ यौन-सम्बन्ध स्थापित किया जिससे विचित्र आकृति वाले दस पुत्र पैदा हुए। अविहित रीति से उत्पन्न होने के कारण कायमशी नपुंसक माने गए हैं। जैसा कि बंजिल (जूनी क्रियेशन मिथ्स ४००) ने कहा है वे बीजरहित हैं क्योंकि विरुद्ध कामुकता का फल व्यर्थ हो जाता है, जैसे, बिना ऋतु के स्वयंजनित मक्ई परिपक्व नहीं होता। लेकिन यह कहा जा चुका है कि उनके चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी उभयप्रवणता। वे नपुंसक होते हुए भी प्रेम और उर्वरता के दाता हैं। उनकी घुण्डी में बीज भरे रहते हैं और वे अपने अभिनय में प्रायः यौन

व्यापारों का अनुकरण करते रहते हैं। उनके नगाड़े में लाहाकामा नामक तितलियाँ लगी रहती हैं, जो किसी को भी वश में कर सकती हैं।

उत्सव कायेमशी द्वारा आरम्भ होता है। वे यह सूचना देते हैं कि ग्रीष्मकाल में अनुपस्थिति के बाद कतचिन (या कोकन्का) चार दिनों में गाँव लौटेंगे और आठ दिनों में शालाको आरम्भ होगा। इस सूचना के बाद प्रधान कायमशी को छोड़ कर शेष नौ हर प्रकार का अश्लील गीत गाते और भाषण देते हैं। इस अवसर पर गाये जाने वाला गीत, जो प्रार्थना जैसा लगता है, इस प्रकार है —

हमारे दिवाप्रकाश पिताओ,
हमारी दिवाप्रकाश माताओ,
इतने अधिक दिनों के बाद
आठ दिनों के बाद
नवें दिन तुम लोग भड़ों से सम्भोग करोगे।
(बजेल जूनी रोचुअल पोयट्री ९५२)

आठवें दिन गाँव में देवताओं का प्रवेश होता है। ये गाँव की सड़क पर खड़े गये छह स्थानों में प्रार्थनायष्टि गाड़ कर उस घर में प्रवेश करते हैं जहाँ रात में उनका सत्कार किया जाता है। आतिथेय उनसे आने का प्रयोजन पूछता है जिसके उत्तर में वे अपने आने तक की सभी पूर्ववर्ती घटनाओं का गायन करते हैं और अपने आने का प्रयोजन बताते हैं। आतिथेय उनसे अपने परिवार के सभी सदस्यों के लिए संतान की आशीष माँगता है। रात में आतिथेय के घर में नृत्य और अभिनय होते हैं। नवें दिन कायेमशी को छोड़ कर अन्य सभी देवता विदा हो जाते हैं और उनके याजक या अभिनेता वर्ष भर के दायित्व से मुक्त होकर पुनः सामान्य मनुष्य बन जाते हैं। कायेमशी शालाको के अन्तिम दिन निराहार और मौन रहते हैं। रात में कीवा में उनके अभिनय का रूप एकदम बदल जाता है और उसमें अश्लीलता का लेश भी नहीं दिखाई देता। देवी विदूषकों के नृत्य और अभिनय का वातावरण इतना संयत, करुण और मर्मस्पर्शी होता है कि दर्शक भावविह्वल हुए बिना नहीं रहते। लोग, प्रातःकाल बहुत उपहार देकर उन्हें पूरे वर्ष के लिए विदा करते हैं।

विस्तार में जाकर परीक्षा करने पर शालाको में शिथिलता और आवृत्ति पकड़ी जा सकती है। लेकिन इसमें दृश्य और श्रव्य, दोनों प्रकार की आह्लादक और पर्याप्त कलात्मक सामग्री मिलती है। यह एक ओर वर्षा, सन्तान और धान्य की समृद्धि का अनुष्ठान है तो दूसरी ओर जीवन और मृत्यु के अन्तर्विरोध का निराकरण भी। यह निकटाभिगमन का निषेध है और अवदमित भावनाओं के बाह्यकरण द्वारा मानस का विरेचन भी, जो स्वस्थ और संतुलित सामाजिक

जीवन की अभिव्यक्ति है। यह विशेषता इसके कुछ अभिप्रायों का संकेत भर है। परन्तु यह पूरी संस्कृति की सामान्य जिज्ञासा और जीवनमूल्यों की वैयक्तिक अभिव्यक्ति है जो इसको पूरी जाति का प्रतिनिधित्व प्रदान करता है।

धार्मिक नाटक याजक या पुरोहित वर्ग से सम्बद्ध है जो ऐसी आनुष्ठानिक क्रिया का स्वाभाविक परिणाम है। स्वभावतः इसका गौण प्रयोजन है और ऐसी याज-संस्था प्रायः शौच व यथावत् अनुष्ठान की सामग्री भर है। इनके मूल प्रयोजन सामाजिक हैं और उनकी पूर्ति स्वजन वर्ग व्यक्तियों द्वारा सम्भव है जो एक विशेष प्रकार के तादात्म्य भाव के अधिकारी हैं। धार्मिक-से धार्मिक समाज में भी इस दृष्टि से विशेषज्ञ और गैर विशेषज्ञ अलग-अलग वर्ग हो जाते हैं। विशेषज्ञ या याजक का काम सामूहिक महत्व के विभिन्न अनुष्ठानों का सम्पन्न करना है। वह उस गुह्य ज्ञान का अधिकृत कर सका है जिसके अभाव में कोई भी उल्लिखित अनुष्ठानों को सम्पन्न नहीं कर सकता। वह आधिभौतिक शक्तियों का आवाहन करता है और उनके माध्यम के रूप में रोग, अकाल, अनावृष्टि, युद्ध आदि की पूर्वोक्ति कर मायाविक मत्र तथा विविध अभिचारों द्वारा उनका निराकरण करता है। अनुष्ठान और उपचार सम्पन्न करने या आवेश की अवधि में वह स्वयं देवता या अलौकिक शक्ति बन जाता है। अभिचार और अनुष्ठान सम्पन्न करने का अधिकार और अलौकिक शक्ति द्वारा आविष्ट होने की क्षमता उसे पूज्य और भयास्पद बना देती है। एक एस्किमो ने रासमुस्सन से यह कहा था—

हम तुम्हारी तरह किसी ईश्वर में विश्वास नहीं करते। हम सब बातें नहीं समझ पाते। लेकिन, हम अपने आगमन अपने जादूगरों में विश्वास करते हैं क्योंकि हम अधिक दिन जीना चाहते हैं और अकाल और भुखमरी का खतरा मोल लेना नहीं चाहते। यदि हम उसका (उनका) परामर्श नहीं मानेंगे तो हम बीमार पड़ेंगे और मर जायेंगे।[१] (१६०८ १२) यह स्थिति याजकों को एक विशेष सामाजिक महत्व प्रदान करती है। आनुष्ठानिक नाटक उनके द्वारा ही अभिनीत होते हैं जिनके लिए विभिन्न प्रकार के गुह्य कृत्यों और मत्रों का ज्ञान अपेक्षित होता है अतएव ये याजक-वर्ग की सम्पत्ति बन जाते हैं। इनके अभिनय का अधिकार वंशगत अथवा गुरु शिष्य-परम्परागत भी हो सकता है और विशेषकालिक भी। दूसरी स्थिति प्यूब्लो जातियों के शालाको और अन्य अनुष्ठानों में दिखायी पड़ती है जिनमें प्रमुख याजक योग्य व्यक्तियों का चुनाव करता है और उन्हें अपेक्षित प्रशिक्षण देता है। केरस जाति के शालीन विदूषक कोशारी धार्मिक नृत्यों के निदेशक होते हैं। वे इन नृत्यों में भाग लेने वाले नर्तकों को

---

१ पीपुल ऑव द पोलर नार्थ लन्दन अनु०, जी० हेरिंग

प्रशिक्षण देने कीवा में उनकी सख्या की गणना करते और उनके नत्य एव अभिनय पर सावधान दृष्टि रखते हैं।

इस विशेषता का लाभ यह होता है कि आनुष्ठानिक नाटक जान अनजान में व्यवस्थित और परिष्कृत होते जाते ह। इस प्रकार के अनेक नाटक प्राप्य है जिनमें सबद्ध और सयत तथा नाटकीय अथ में पात्र मिलते ह। पावनी का गजनोत्सव, हापी का पावामू और जूनी का शालाको ऐसे ही नाटक है।

याजकवग में सवत्र अपने ज्ञान और कौशल गोपनीय बनाए रखने की प्रवृत्ति मिलती ह। यह प्रवृत्ति उसके विशेष महत्त्व के सरक्षण के लिए ही आवश्यक नही ह वरन स्वय कबीले की दृष्टि में भी अपना औचित्य रखती ह क्योकि गुह्य प्रकृति का ज्ञान सत्व पवित्र और असावजनिक होता है। यह प्रवृत्ति वैसे नाटको को जन्म दती है जिनमें दीक्षित व्यक्ति ही अभिनेता और दशक हो सकते ह। आस्ट्रेलिया के दीक्षा-सस्कारो में दीक्षार्थी और दीक्षित ही भाग लते ह। जो नाटक पूरात गोपनीय नही होते उनके भी कुछ भाग याजकों और शामना तक सीमित हुआ करते ह। पावनी का जादूगर या आभा-नृत्य इसका प्रमाण ह। इसका एक प्रयोजन याजको द्वारा अपनी जादूशक्ति का नवीकरण ह तो दूसरा, गाँव स रोग का निष्कासन। जहा पहला प्रयोजन वग विशेष से सबधित ह वहाँ दूसरा स्पष्टत सामूहिक ह। इसका हर अभिनय इसके मूल सस्थापक के गुह्य समाज में दीक्षित होने की क्रिया का याजक द्वारा, अनुकरण ह इसलिए इसके कुछ भाग असावजनिक ह। वे भाग अनुष्ठानगह म सम्पन्न होते ह। इसके अभिनेता अभिनय क अतिम दिन अपने उपास्य पशुओ का वेश धारण कर अनुष्ठानगृह की परिक्रमा करते ह और अपनी जादूशक्ति के प्रदर्शन द्वारा दशको को, अपने महत्व के प्रति आश्वस्त करते ह। किन्तु वे उसमें लौटने के बाद पशुओ की आवाजो के अनुकरण और जादू के जो कौशल दिखलाते ह, वे सामान्य जन क सामने प्रदर्शित नही होते। इस नृत्य-नाटक के विपरीत सावजनिक आनुष्ठानिक नाटको की सख्या कही अधिक ह। इस वग में दो प्रकार के नाटक प्राप्य ह। पहले प्रकार के नाटक व ह जिनके अभिनेता याजक ही हो सकते ह किन्तु जिनका दशक पूरा समुदाय होता ह। दूसरे प्रकार के नाटको के अभिनय में पूरा समुदाय भाग लेता ह।

आदिम नाटको की आनुष्ठानिक प्रकृति का एक अभिन्न अग है—मुखौटा, जिस पर विचार किए बिना इनका कोई भी विश्लेषण अधूरा माना जायगा।

आनुष्ठानिक नाटको में याजक या अभिनेता को अभिनय देवता का प्रतिरूप मान लिया जाता है। इसके पीछे यह विश्वास काम करता ह कि अभिनय की अवधि में उसमें अभिनेय देवता का आधान हो जाता ह। यह अनुकर्ता और अनुकृत का

एक मान लेने का मनोविज्ञान है, जो अनुकरणमूलक जादू की विशेषता है। जिस व्यक्ति पर जादूगर मंत्र का प्रयोग करना चाहता है वह उस व्यक्ति का अनुकृति (माम की मूर्ति चित्र आदि) तैयार करता है और उसे उसका प्रतिरूप मान लेता है। सदृश वस्तुओं के तादात्मीकरण की यही प्रक्रिया मुखौटा के प्रयोग में मिलती है। नर्तक या अभिनेता जिस अवधि तक मुखौटा पहने रहता है, उस अवधि तक उसमें मुखौटे द्वारा धारित देवता का अवतरण विद्यमान रहता है। यही कारण है कि आदिम जातियों में मुखौटे के उपयोग संबंधी निषेध मिलते है। जूनियों का यह विश्वास है कि यदि अनुष्ठान या समारोह में भाग नहीं लेने वाला व्यक्ति मुखौटा पहन ले तो उसकी मृत्यु हो जायगी।

इसका अर्थ यह नहीं कि आदिम जातियों के सभी नाटक आनुष्ठानिक ही होते हैं। सीमित संख्या में ही सही उनमें लौकिक नाटक भी प्रायः संभव है। यह सच है कि आनुष्ठानिक नाटकों का सामूहिक जीवन से इतना घनिष्ठ संबंध है कि उनके अभिनय के ऐश्वर्य की प्रतिस्पर्द्धा लौकिक नाटकों द्वारा संभव नहीं। इसके बावजूद उनके बीच न केवल नाटकों का अस्तित्व है वरन अपनी वस्तुगत एकता और आकर्षक अभिनय के कारण वे उल्लेखनीय हो जाते हैं। इस प्रसंग में चेरोकी जाति के जयनृत्य और बूगरनृत्य[1] तथा थोंगा जाति (दक्षिण अफ्रीका) के शिरिएडजा नाटक की चर्चा की जा सकती है।

जयनृत्य में योद्धाओं की पंक्ति दायें हाथ में परवछड़ी और बायें हाथ जय चिह्न (पूर्वकाल में निहत शत्रु का सिर) लेकर, नृत्यस्थल की परिक्रमा करती है। वृत्त के लगभग बीच में एक आदमी गाता है और शेष व्यक्ति रह रहकर हुँकार करते हैं। गीत के समाप्त होते ही नृत्य का दूसरा भाग आरम्भ होता है। योद्धा पंक्ति के आरंभ में खड़े नेता के पीछे धीरे धीरे चलते रहते हैं और वह युद्ध में अपने करतबों को गाता और उनका अभिनय करता है। इसके बाद वह अपना परवछड़ी ले लेता और ठीक अपने पीछे के योद्धा को अपने करतबों के गायन का अवसर देता है। यह क्रम तबतक चलता रहता है, जबतक प्रत्येक योद्धा अपने कृत्यों का गायन और अभिनय नहीं कर लेता। नृत्य समाप्त होने के बाद नेता परवछड़ियों को (पूर्वकाल में सिरों को) एकत्रकर फेंक देता है। अब कबायली युद्धों का युग बीत गया है इसलिए पिछली सदी से ही यह नृत्य (या नृत्यनाटक) एक शोभा-यात्रा के रूप में परिणत होता रहा है।

चेरोकी जाति का सबसे विस्तृत नृत्य-नाटक है—बूगर नृत्य। इसमें लकड़ी

---

१ द्रष्टव्य—चेरोकी डांस ऐण्ड ड्रामा फ्रैंक जी० स्पेक और लियोनार्ड ब्रूम शिकागो १९५१

बडे कलात्मक मुखौटा का उपयाग मिलता ह। इसक मुख्य पात्र ह—रड डियन, हब्शी, चाना, यूरोपियन, रेड इडियन याद्धा और रड इडियन महिला। नमें अपन कबाल से इतर अमरीकी कबीला के भा पात्र रहते हैं। पात्रा के खौट इस प्रकार के हाते ह कि उनके द्वारा गर चेरोकी जातियों के प्रति उपहास ालोचना आदि मनाभावा का व्यजना हा जाती ह। बूगर नृत्य म विभिन्न शाम्रा (जातियो) के पात्र गर-चेराकी भापा में बातें करत ह। वे परस्पर रिचय क बाद अनेक प्रकार क अभिनय करते हं। उनकी एक विशेपता ह— त्रया की ग्रार उन्मुख होकर श्लील रूप में अपने अगा का प्रदशन। पूर नृत्य टक म यूरोपाय आक्रमणकारिया के प्रति आक्रोश उपेक्षा और घृणा की अभि- यक्ति मिलती ह। यद्यपि इसका आनुष्ठानिक प्रयाजन इतर जातिया क दुष्प्र ावा को क्षीण करना ह किन्तु इसका परिवश मिथिक न हाकर एहिक ह और ह भा इतने प्रखर रूप में कि इस लौकिक नाटकों की श्रेणी में ही रखा जा कता ह।

थागा जाति म टिनसिमू टा रागे (रोगे क गीत) नामक जा रचनाएँ प्रचलित ' उनमें शिरिएडजा अपने ढग की अकेली रचना ह। यह पाँच भागा या अका विभाजित ह जो क्रमानुसार अभिनीत हाते ह किन्तु जिनम कथात्मक सगति ा निर्देश बहुत कठिन है। इसके तीसर और पाँचवें अको का सम्बन्ध गवूज़ा ामक व्यक्ति से ह, जो अपने समय का प्रसिद्ध नत्तक था। पिछली सदा म जब ंगरजा ने उसक जन्मस्थान नोन्दवेन पर अधिकार कर लिया तब वह भागकर शिरिएड्जा चला आया। गेबूजा आलसी और गप्पबाज़ था। एक सवाद में शिरि- एडजा क लाग उसकी आलोचना करते ह[1] —

गेबूज़ा—मुझे कहने दो
शिरिएन्जा का कारस—तुम हमसे कौन-सी बेहूदी कहानियाँ कहना चाहत हा ?
गेबूज़ा—मुझे कहने दो
कोरस—हम बिडजियानकोमा के लोग (कहते ह) गाने का होता ह एक दिन,
वह (दिन) आज ह।
जहा तक काम करने की बात, तुम निकम्मे हो।
गेबूज़ा तुम्हार कडवे फलो वाले बडे एकाये[2] के नीचे गाने का एक दिन
हाता ह वह दिन आज ह।

आदिम नाटक और साहित्यिक नाटक के बीच एक और ऐतिहासिक—बहुत

---

१ जूनोड लाइफ आव ए साउथ एफ्रिकन ट्राइब २०६
२ एक वृक्ष जिसके नीचे गेबूज़ा गप्पें हाका करता था।

म उदाहरणा में पूर्वापर—सम्बन्ध है तो दूसरी ओर वसी रूपात्मक समानताए ह जिनकी उपेक्षा नही की जा सकती। इसका अर्थ यह नही कि आज जो आदिम नाटक प्रचलित है उनका आगे चलकर साहित्यिक नाटको में विकास होगा और न यही कि यदि उन जातियो का, जिनके बीच वे प्रचलित हैं गर आदिम संस्कृतियो से सम्पर्क नही होता और उन्हें स्वतन्त्र विकास की सुविधा मिलती, तो वे कभी-न-कभी साहित्यिक नाटको में परिवर्तित हो जाते। इस नियतिवाद का मानने की कोई अनिवार्यता नही ह। फिर भी अतीत म वैसी आदिम जातियो के उदाहरण सुलभ ह जिनके नाटको की सास्कृतिक विकास की अगली स्थितियो में, साहित्यिक परिणति हुई ह। एसा तभी हुआ है जब उन्होंने आनुष्ठानिक नाटको का अयाजकीकरण किया ह। यह उल्लेख्य है कि अपने नाटको को अनुष्ठान और कर्मकाण्ड की भूमिका स मुक्त करने में बहुत कम जातियाँ समर्थ हुई ह। यह सयोग किसी भारतीय ग्रीक चीनी जापानी या अजतक जाति को ही प्राप्त हो सका ह।

ग्रीक नाटको की आनुष्ठानिक उत्पत्ति का निर्देश स्वय अरस्तू ने किया ह — "कामदी आरम्भ म तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रस्तुत आशु रचना मात्र थी। (वह) आवशगीति के रचयिताओ द्वारा प्रवर्तित हुई।" ग्रीक ट्रैजडी और कामडी, दोनो का इतिहास डायोनीसस के उत्सव से जुडा ह। इसी तरह चीनी और जापानी नाट्य-परपराओ की धार्मिक आनुष्ठानिक उत्पत्ति के प्रमाण मिल जाते ह। चीनी नाटक का आरभ सभवत पितर-पूजा स हुआ। जापानी ना (नोह) का विकास चौदहवी शताब्दी में शिन्तो धर्म की भूमिका में हुआ। आरभ म इसका प्रदर्शन मात्र धर्मतत्त्व के आख्यान के लिए होता था। नृत्य और सामूहिक गायन आज भी इसके महत्वपूर्ण अग ह। यही बात कुछ दशक पूर्व तक चीनी नाटको के विषय में भी सत्य थी क्योकि वे नाटकीय कार्य-व्यापार की तुलना में नृत्य और सगीत को कहीं अधिक महत्त्व देते थे।

जितने विश्वास के साथ ग्रीक चीनी या जापानी नाटको के विषय में यह कहा जा सकता ह कि वे मूलत आनुष्ठानिक थे, उतने विश्वास के साथ भारतीय नाटको के विषय में नही। भरत ने विभिन्न वेदो के तत्वो के सयोजन द्वारा नाटक की रचना की जो कथा कही ह, वह वस्तुस्थिति का युक्तीकरण मात्र ह। कई आधुनिक विद्वानो ने ऋग्वेद के सवाद-सूक्तो में भारतीय नाटक के मूल की खोज की ह। उन्होंने यह अनुमान व्यक्त किया है कि सवाद-सूक्तो में बीच-बीच में गद्य की व्याख्यात्मक पक्तियाँ रही होगी जो बाद में नष्ट हो गयी होगी। विण्डिश ने इसके प्रमाण के रूप में प्राचीन आयरिश आख्यान गीतो का उल्लेख किया ह जिनमें गद्य और पद्य का मिश्रण था। न केवल ब्राह्मण उपनिषद जातक

और पंचतंत्र जैसी रचनाओं में, वरन नाटकों में भी यह परम्परा मिल जाती है। लेकिन मैक्सम्यूलर और लेवी ने विंडिश की इस धारणा को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया है। उन्होंने यह कहा है कि वैदिक संवादसूक्त अनुष्ठानों से सम्बन्धित थे, और उनका नृत्य और संगीत के साथ अभिनय होता था। अपने 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' में प्रसाद भी यही कहते हैं[1]। डाक्टर इन्दुशेखर संस्कृत नाटक को द्रविड सम्पर्क का परिणाम मानते हैं किन्तु वे इसकी आनुष्ठानिक उत्पत्ति की संभावना से इन्कार नहीं करते— वैदिक मंत्रों में कुछ नाटकीय तत्व बीज रूप में विद्यमान हैं और महाव्रत तथा अन्य अनुष्ठान इस (आनुष्ठानिक) उत्पत्ति की थोड़ी संभावना का समर्थन करते हैं।' (संस्कृत ड्रामा १९६० ५३) फिर भी इस सम्बन्ध में सामग्री इतनी स्वल्प है कि किसी निष्कर्ष तक पहुँचना कठिन है।

वस्तुतः यह आवश्यक भी नहीं है कि प्रत्येक उदाहरण में साहित्यिक नाटक का विकास आनुष्ठानिक नाटक से ही माना जाये। अनेक स्थितियों में आनुष्ठानिक नाटक गैरआदिम लोकनाटक के रूप में विकसित हुए हैं और उनकी प्रकृति ऐहिक होती गयी है। इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि साहित्यिक नाटक गैरआदिम ऐहिक लोकनाटक से भी विकसित हो सकता है। आधुनिक संदर्भ में इस बात के प्रमाण दुर्लभ नहीं हैं।

आदिम और साहित्यिक नाटकों के बीच अनेक रूपात्मक समानताएँ हैं। दोनों में घटनाओं का एक विशेष क्रमविधान या कथा मिलती है जो सरल और जटिल, दोनों प्रकार की हो सकती है। प्रायः आनुष्ठानिक नाटकों में इकहरी और सीमित कथा का विधान मिलता है किन्तु पालिनेशिया के आनुष्ठानिक नाटक जटिल कथानक वाले साहित्यिक नाटकों से तुलनीय हैं। आनुष्ठानिक और साहित्यिक, दोनों प्रकार के नाटकों में कथा के अतिरिक्त पात्र, अभिनय और प्रभावगत अन्विति जैसी विशेषताएँ मिलती हैं। दोनों के पात्रों की एक विशेष वेशभूषा होती है। अधिकांश आनुष्ठानिक नाटकों में प्रधान याजक या नेता की भूमिका साहित्यिक नाटकों के सूत्रधार या निर्देशक जैसी होती है और उनके अभिनय के लिए भी प्रशिक्षण और विशेषज्ञता की अपेक्षा होती है।

नाटक—चाहे वह आदिम हो या आधुनिक—अपनी प्रकृति से ही एक

---

१ नाटकों के सम्बन्ध में लोगों का यह कहना है कि उनके बीज वैदिक संवादों में मिलते हैं। वैदिक-काल में भी अभिनय संभवतः बड़े-बड़े यज्ञों के अवसर पर होते थे। एक छोटे-से अभिनय का प्रसंग सोमयाग के अवसर पर आता है। (तृतीय सं०, ८८)

सामासिक कला है। इस प्रसंग में भरत की यह उक्ति पर्याप्त सार्थक है कि 'न कोई ऐसा वेद है न शिल्प न विद्या न कला न योग और न कर्म जो इस नाट्य में नहीं दिखाया जा सकता।' (१-८२) सभी जातियाँ अपनी विभिन्न कलाओं का, नाटकों के अभिनय में उत्तम-से उत्तम संयोजन करती रही हैं। होपी रंगी हुई बालू से जो कलात्मक चित्र बनाते हैं उनका अपने अनुष्ठानों के अतिरिक्त आनुष्ठानिक नाटकों में भी उपयोग करते हैं। सभी प्यूब्लो जातियाँ कतचिनों के मुखौटों पर विभिन्न ज्यामितिक रेखाओं और आकृतियों की रचना करती हैं। मुखौटों के रंग से कतचिन विशेष का परिचय मिलता है। उदाहरणार्थ, काला मुखौटा पाताल के कतचिन का परिचायक है और लाल मुखौटा दक्षिण या दक्षिणपूर्व के कतचिन का। तारा चन्द्रमा इन्द्रधनुष आदि संकेतों के द्वारा भी कतचिन विशेष का द्योतन होता है। करेस जाति के काशारी विदूषकों का शरीर उजले रंग से रंगा जाता है और उस पर काली क्षतिज रेखाएँ खींची जाती हैं। होपियों के फालूलूकोन्ती अनुष्ठान में जिस महापुच्छ सर्प की कथा का अभिनय होता है उसमें सर्पों के बड़े जीवन्त पुतलों का उपयोग किया जाता है। सम्भवतः मूर्तियों और पुतलों का सर्वाधिक उपयोग पावनी जाति के ओझा नृत्य में ही होता है। इस नृत्यनाटक में रंगमंच पर साँडों और गायों की खाल से बनायी हुई जलदेवता डायन भोरतारा और अन्य अधिष्ठाता देवताओं की मूर्तियाँ रखी जाती हैं। जलदेवता की मूर्ति साठ फुट लम्बी होती है। उस पर घास और गीली मिट्टी का लेप चढ़ाया जाता है और वह विभिन्न रंगों से रंगी जाती है। रोमिल पंखों और चित्रों से सजाया हुई भैंस की खाल से उसका मुख रचा जाता है और वह इतना बड़ा होता है कि उसमें कोई भी व्यक्ति प्रवेश कर सकता है। इसी तरह डायन की मूर्ति पर भी घास और मिट्टी का लेप रहता है और कद्दू के काले रंग में रंगे हुए बीजों से उसकी आँखें बनायी जाती हैं। भैंसे की खाल से रचे गए उसके सिर पर आदमी के केश जड़ दिए जाते हैं। इस प्रकार यह नहीं कहा जा सकता कि समृद्ध मंचसज्जा साहित्यिक नाटकों की ही विशेषता है। वस्तुतः आदिम और साहित्यिक नाटकों में जो पार्थक्य दिखाई पड़ता है वह उनके प्रयोजन संयोजन और गठन का ही है।

साहित्यिक नाटक आदिम आनुष्ठानिक नाटक से केवल रूपात्मक समानताएँ ही नहीं रखता। वह अपने सफलतम उदाहरणों और सर्वोत्तम क्षणों में अब भी आनुष्ठानिक नाटक होना चाहता है। कोई भी साहित्यिक नाटक इससे बढ़ उत्कर्ष की महत्वाकांक्षा नहीं कर सकता। अनुष्ठान, आनुष्ठानिक नाटक और साहित्यिक नाटक—तीनों के याजक अभिनेता और दर्शक यह जानते हैं कि जो कृत्य सम्पन्न या अभिनीत हो रहा है वह वास्तविक न होकर, उसका अनुकरण या

लोकसाहित्य मे समानान्तरता और प्रसार

विभिन्न दशो के लोकसाहित्य म सामग्री और शिल्प, दोनो धरातलो पर अनेक वसी समानताए मिलती ह जो अपना सन्तोषजनक समाधान खोजती ह। मुख्य रूप में लोककथाओ के क्षेत्र में उदघाटित होन वाली समानताए अब भी नि शेष नही हुई ह। इस आधार पर यह धारणा स्वाभाविक ह कि लोकसाहित्य का बहुत बडा भाग जितना प्रादेशिक ह उससे अधिक राष्ट्रीय है और जितना राष्ट्रीय ह उसस अधिक अन्तर्राष्ट्रीय। वह समस्त मानवजाति की समान विरासत में ह और उसकी भावगत एकता का महत्त्वपूर्ण सूत्र भी एक ह। इस धारणा को पुष्ट करने वाली ये कथाएँ और कथानक रूढियाँ ह जो दोनो गोलार्द्धो म व्याप्त ह। उदाहरणाथ, एक कथा म शत्रु द्वारा पीछा किये जाने पर नायक माग में एक पत्थर, एक कघी और एक बतन तेल या अन्य कोई तरल पदाथ फेंकता ह। पत्थर पहाड बन जाता ह कघी जगल या दुलध्य झाडी बन जाता ह और तेल नदी तालाब या समुद्र। इन व्यवधानो क कारण शत्रु उस नही पकड पाता और वह सकुशल भाग निकलता ह। यह कथा एशिया से लकर यूरोप क अतलान्तिक सीमावर्ती प्रदशो और ग्रीनलण्ड से लेकर उत्तर और दक्षिण अमेरिका तक फली हुई ह। इसमें प्रमुख पात्रो के लिंग जाति और सख्या तथा व्यवधान के रूप में फेंकी गयी वस्तुओ की सूची म भद मिलता ह किन्तु कहानी के मूल ढाचे म कोई परिवतन नही होता।

इसी प्रकार सिंडेला आपदग्रस्त हिंस्र पशु और उसका उद्धारक और हस कन्या की कथाएँ व्यापक रूप में फली हुई ह। अब तक के अनुसधानो के अनुसार सिंडेला की कहानी एशिया, यूरोप, अफ्रीका अलास्का और दक्षिण अमेरिका में प्रचलित ह। इसका प्राचीनतम लिखित रूप नवी सदी का ह जो चीनी भाषा में प्राप्य है।[1] अकेल यूरोप में इसके पाँच सौ रूपान्तर मिलते ह। मरियन काक्स ने १८९३ ई० में इसके उस समय तक प्राप्य सभी रूपान्तरो का एक सकलन प्रकाशित किया था। आपदग्रस्त हिंस्र पशु और उसके उद्धारक के प्राय सौ रूपान्तरो का विवेचन कार्ले क्रोन के 'मान उएड फुक्स' (मनुष्य और लोमडी १८९१) का विषय ह। यह कहानी भागवत पुराण और गुलबकावली में मिलती

---

१ यह कहानी तुआन चेन्शिह (मृत्युतिथि ८६३ ई०) के युयाड त्साहत्सू म मिलती है। (फमस चाइनीज शाट स्टोरीज सकलनकर्ता—लिन युतान पृ० २११ १९५६)।

ह। इसके एक रूपान्तर का उल्लेख टेम्पल की 'वाइड अवेक स्टारीज' (११६-२०) में सुलभ ह। सक्षेप में कहानी इस प्रकार ह —

एक बाघ लाहे के पिंजरे में फँस जाता ह। सयोगवश एक निघन ब्राह्मण उसक पास से गुजरता ह। बाघ ब्राह्मण से अनुरोध करता है कि तुम मुझे मुक्त कर दो, मैं इसके लिए आजीवन आभारी रहूँगा। उसकी दशा पर तरस खाकर ब्राह्मण पिंजरे का द्वार खाल देता ह किन्तु मुक्त होते ही बाघ उस पर टूट पडता ह। ब्राह्मण बडी कठिनाई से उसे तब तक रुकने के लिए राजी कर लेता है जब तक तीन पच इस बात का निर्णय न कर दें कि जा कुछ वह कर रहा ह वह उचित ह या अनुचित। ब्राह्मण सबस पहले पच पीपल स इसका निर्णय करने का अनुरोध करता है। पीपल बाघ का समर्थन करता ह क्योंकि वह भी ब्राह्मण का तरह ही लोगों को आश्रय देता ह और बदले में व उसकी डालें काटते और उसको बबाद करत रहते हैं। निराश हाकर वह भैंसे के पास जाता ह और फिर माग के पास। दोनों यही कहते ह कि बाघ का आचरण एकदम उचित ह। वह हताश भाव से यह साच कर लौटने लगता है कि अब बाघ का आहार बनने के सिवा उसके लिए और कोई दूसरा विकल्प शेष नहीं ह। तभी उसकी भेंट एक गीदड से हाती है जो उसकी कहानी सुन कर भी उस नहीं समझ पाने का बहाना करता है। दानो बाघ क पास जाते ह। गीदड बाघ से यह प्रार्थना करता है कि आप मेरे सामने सभी बातें स्पष्ट कर दें, मुझे यह विश्वास करने में कठिनाई हो रही ह कि आप लाहे क पिंजरे में फँस गये हागे। उसकी मूर्खता पर खीझ कर बाघ पिंजरे में घुस जाता ह और कहता ह— मैं इस तरह फँसा था। अब तो तुम समझ गये हागे ?' गीदड पिंजरे का दरवाजा बन्द कर देता ह और यह बालता ह— 'हाँ, अच्छी तरह समझ गया। अब बात फिर वहीं पहुँच गयी ह जहाँ स कि वह शुरू हुई थी।

सन्थाली क्षेत्र में इस कहानी क प्रमुख पात्र ह चट्टान क नीचे दबा हुआ बाघ और चरवाहा। इसमें जिन तीन पचो का उल्लेख किया जाता ह वे ह आम के पेड तालाब और बन्दर। दो पच बाघ का समर्थन करते ह लेकिन तीसरा पच (बन्दर) यह कहता ह— मैं जरा बहरा हूँ जरा मेरे पास ऊपर आकर मुझे साफ-साफ समझाओ। चरवाहा पेड पर चढ कर उसक पास पहुचता ह तो बन्दर यह कहता ह— मूर्ख क्या तुमको यह नहीं दिखाई पड रहा ह कि तुम अब सुरक्षित हो गय हो और बाघ तुम्हें नहीं पकड सकता ? सहायता के लिए हल्ला करो। उसका शोर सुन कर गाँव के लोग दौड कर आ जाते हैं और बाघ को खदेड देते ह।

---

१ इण्डियन फोकलोर कलकत्ता खण्ड–२ सख्या–१ पृ० ४० १९५७

इस कहानी का मुण्डारी रूपान्तर श्री जगदीश त्रिगुणायत की 'मुण्डा लोक कथाएं' (१९६८) में "कूला सोंगो दारोम" (एक ब्राह्मण और बाघ ४८९-५००) के नाम से विद्यमान है। यह पेड़ के खोखले गड्ढे में धँस गये बाघ और उसे मुक्त करने वाले किसान की कहानी है। इसके पात्र हैं—किसान, पेड़ और सियार। सियार सब कुछ अपनी आँखों से देख कर ही फैसला करना चाहता है और ज्यों ही बाघ गड्ढे में धँसता है वह उसे मौन-जाम कर भाग जाता है।

अपने चीनी रूपान्तर में यह कहानी अन्य प्राप्य रूपान्तरों से सबसे भिन्न है, अहिंसा पर व्यंग्य करने वाली कथा बन जाती है। १९६० ई० में चीनी सरकार ने अहिंसा के सिद्धान्त के खोखलेपन के प्रमाण के रूप में कई बार इसका हवाला दिया था। इसके प्रमुख पात्र हैं—भेड़िया और तुन्कुओ नामक मोहिस्ट (मोत्से का अनुयायी अर्थात अहिंसावादी)।[1] तुङ्कुओ शिकारियों के दल से प्राण रक्षा के लिए भागे हुए भेड़िये को अपने थैले में बन्द कर देता है। शिकारियों के भाग खड़े होने के बाद भेड़िया थैले से बाहर निकलना चाहता है और बाहर होते ही यह कहता है—'बन्धु, तुम अहिंसावादी हो। लोक कल्याण ही तुम्हारा धर्म है। मेरी भूख का आहार बन कर तुम्हें बहुत प्रसन्नता होगी।' तुन्कुओ घबरा जाता है और भेड़िये को समझाने की कोशिश करता है। लेकिन भेड़िया उसके विचारों से सहमत नहीं हो पाता है और उस पर यह आरोप लगाता है कि तुमने मुझे थैले में बन्द कर यन्त्रणा दी है। तुङ्कुओ इस आरोप का निर्णय करने के लिए तीन पंचों के पास जाता है। पहले दो पंच (सूखा पेड़ और भैंसा) भेड़िये के आरोप से सहमति व्यक्त करते हैं लेकिन तीसरा पंच (बूढ़ा आदमी) इस बात की परीक्षा करना चाहता है कि थैले में भेड़िये को कष्ट हुआ था या नहीं। ज्यों ही भेड़िया अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए थैले में प्रवेश करता है त्योंही वह थैले का मुँह बन्द कर देता है और तुन्कुओ से यह कहता है—'निकालो छुरा और शत्रु का काम तमाम कर दो। या तो इसे मार दो या इसके हाथों मारे जाओ। अव्यावहारिक नैतिकता से काम नहीं चलेगा।'

यूरोप में इसके प्राचीनतम लिखित रूप पेत्रुस अल्फान्सो (१२वीं सदी) और जबुला एग्समाबागान्तेस (१३वीं–१४वीं सदी) में मिलते हैं। इसके मिस्री और *बर्मी रूपान्तरों की मुख्य विशेषता यह है कि उनमें तीन पंचों के बदले केवल एक* पंच का उल्लेख है।

लोक कथाओं से कहीं अधिक समानता कथानक रूढ़ियों के प्रसंग में दिखायी पड़ती है। कथासरित्सागर में एक व्यक्ति उस भाण्ड से, जिसमें संन्यासी-पुत्र को

---

१ पूर्वोक्त, एमस, चाइनीज शार्ट स्टोरीज, २५५–२६१

राधा गया ह चावल के दो दाने खा जाता है। इसके बाद वह थूकता है ता उसका थूक साना हो जाता है। यह रूढि अन्यत्र भी मिलती ह। एक स्वेडिश कहाना की नायिका के मुह से सोने की अँगूठिया गिरती ह और उसके नार्वेजी प्रतिरूप के मुह से सोने के सिक्के। फिनलण्ड की एक कथा का नायक पक्षी विशप को खा जाने के बाद सोना उगलता है। मुह से हीरा सोना या मोती भरने का यह रूढि अमेरिका में भी प्रचलित ह। इसका प्रयोग मुख्यत उन धूतकथाओ में मिलता ह जिनमें पत्नी की प्राप्ति के लिए धूत हीरा या सोना थूकने का वादा करता ह। अन्य रूढिया में सप या गोरये की मस्तकमणि अभिशप्त व्यक्ति का पत्थर, वृक्ष पशु या पक्षी में परिवर्तित हो जाना जादू की टोपी या पोशाक पहन कर अदृश्य हो जाना आदि हैं जो विभिन्न क्षेत्रा—मुख्यत यूरेशिया भूखण्ड—मे व्याप्त ह।

इन समानताओ की ओर सबसे पहले टायलर लग आदि सास्कृतिक विकास वादियो का ध्यान गया और उन्होंने जिस आधार पर इनकी व्याख्या की, वह समानान्तर वाद के नाम से प्रसिद्ध ह। उन्होने यह कहा कि मानव सस्कृति में बहुत सी बातें समानान्तर रूप म विकसित होती रही ह। इसका कारण वह सावभौम मानव प्रकृति है जो देश और काल की सीमाओ में नही बाधी जा सकती और इसीलिए जो इस प्रकार की सभी समानताओं के समाधान का सबसे सगत आधार ह। मनोवैज्ञानिक एकता ही इस धारणा का स्वाभाविक अनुलोम निष्कष यह ह कि समान सामाजिक-सास्कृतिक परिस्थितियो में परिवेश के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रिया समान हाती ह। एक विशेष सास्कृतिक स्तर पर अवस्थित सभी जातियो ने इन प्रश्ना पर विचार किया ह कि दिन में सूय क्या दिखायी देता ह दिन म तारे क्या नही दिखायी देते हैं चन्द्रमा क्यों घटता-बढता रहता ह पृथ्वी और आकाश कसे अलग हा गये इत्यादि और उन्हान कथाओ के माध्यम से इनका समाधान प्रस्तुत किया ह। बहुत सम्भव ह कि इस प्रकार की कथाओ में कहीं-कहीं समानता दिखायी पड जाये। उदाहरणाय, चन्द्रमा की सतह पर दिखायी पडने वाले चिह्न को भारत में खरहे का निशान माना जाता ह। श्रीलका में यह कथा प्रसिद्ध है कि बोधिसत्त्व ने अपने लिए प्राणोत्सग करन वाले खरहे को पुनर्जीवित कर चन्द्रमा पर भेज दिया ह। एक पुरानी मक्सिकी कथा क अनुसार चन्द्रमा पहले सूय की तरह ही चमकदार और गम था। उसके प्रकाश को मन्द करने के लिए एक खरहा आकाश की ओर भेजा गया और वह आज भी वही रह रहा ह। जहाँ भारत और श्रीलका की चन्द्रमा-सम्बन्धी धारणाओ म पारस्परिक सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है (श्रीलका की यह धारणा 'ससजातक' पर आधारित ह भी), वहाँ मक्सिको की धारणा पर भारतीय

अभाव का अनुमान विरुद्ध कल्पना है। इसी प्रकार, प्राकृतिक पदार्थों का दैवीकरण, परवर्ती मानवीय आदि अमूर्त धारणाएँ और प्रथाएँ उन जातियों में भी प्रचलित हैं जो भौगोलिक दृष्टि से असम्बद्ध हैं किन्तु जो समान सामाजिक आर्थिक स्थितियों से गुजरी हैं या गुजर रही हैं। यह भी उल्लेख है कि जहाँ पर आधुनिक संस्कृतियों में ये धारणाएँ और विश्वास लोककहानियों या प्रथाओं में अवशेष के रूप में रह गए हैं वहाँ आदिम संस्कृतियों में इनकी भूमिका जीवन्त जीवन मूल्यों की है।[1]

किन्तु लोकसाहित्य की समानताओं की व्याख्या के समान दृष्टिकोण के रूप में समानान्तरतावाद की स्वीकृति अल्पकालिक रही। सांस्कृतिक सामग्री के तुलनात्मक अध्ययन ने इसे इतना सन्दिग्ध बना दिया कि बहुत दिनों तक प्रगतिशील या आधुनिक समझे जाने वाले विचारकों के बीच इसका उल्लेख निषिद्ध जैसा हो गया। इसके विकल्प के रूप में जिस प्रसारवाद की प्रस्तावना हुई वह एकदम अपरिचित धारणा नहीं थी। स्वयं समानान्तरवादियों को मनोवैज्ञानिक एकता का दर्शन सर्वत्र उपयोगी प्रतीत हुआ हो, यह नहीं कहा जा सकता। ऐण्ड्रयू लैंग ने मरियन कॉक्स की 'सिंड्रेला' की भूमिका में यह तो लिख दिया कि लोककहानियाँ बहुत प्राचीन हैं और उस मनोदशा की उपज हैं जिसमें पिछड़ी जातियाँ अवस्थित हैं या थीं, किन्तु उसने यह भी स्वीकार किया कि कुछ लोककहानियाँ कई रूपों में 'प्रसारित या अर्पित' (XIV) हो सकती हैं। स्वयं सांस्कृतिक विकासवाद के स्थापक टायलर ने अपनी परवर्ती रचनाओं में मनोवैज्ञानिक एकता के इस दर्शन को संशोधित कर लिया। उसने अपने एक निबन्ध (आर० आई० ए० जर्नल १८६७ ११६—१२६) में मेक्सिको में प्रचलित पटोली के खेल को एशियाई मूल से उत्पन्न माना। यह खेल भारत में पचीसी, कोरिया में य्युत और मिस्र में नार्द कहा जाता है। विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त इसकी विवरणगत समानता के आधार पर उसने यह कहा कि पटोली का स्वतन्त्र आविष्कार

---

१ हार्टलैण्ड की 'द सायंस ऑव फेयरी टेल्स' (१८६१) इस विचारधारा की प्रातिनिधिक अभिव्यक्ति देने वाली रचना है। लोककथाओं के सम्बन्ध में इसका निष्कर्ष यह है — "जिन घटनाओं से (इन कहानियों की) रचना हुई है, वे उन धारणाओं पर आधारित हैं जो किसी एक जाति की अपनी न होकर वन्य जातियों के बीच सर्वत्र सुपरिचित हैं, ये बर्बरता के द्वारा वन्यता से और आधुनिक सभ्यता तथा विश्व की भौतिक घटनाओं की वैज्ञानिक जानकारी के द्वारा बर्बरता के स्थानान्तरण के साथ क्रमशः परिवर्तित और रूपान्तरित होती गयी हैं।" (२४ २५)

के रूप में देखना असगत है। यह कोलम्बस से पूर्व पूर्व-एशिया और अमेरिका के बीच आवागमन का एक प्रमाण है।

प्रसारवाद का मूल धारणा यह है कि सास्कृतिक समानताओं का मुख्य कारण केन्द्र विशेष से प्रथाओं, विश्वासों आदि का प्रसार है। एक जाति की परम्पराएँ और सस्थाएँ कालान्तर में उसकी समीपवर्ती अनेक जातियों की समान विरासत बन जाती है। न केवल भौतिक उपकरण, वरन गीत कथा आदि मौखिक वस्तुएँ भी इसी रूप में प्रसार पाती रही है। बहुत पहले यह प्रमाणित हो चुका है कि आस्ट्रेलिया में एक जाति दूसरी जाति की वैसी कोरोबारियो (गीतो) को भी कण्ठाग्र कर लेती है जो उसकी भाषा से नितान्त भिन्न भाषा की होती है जिनका एक शब्द भी श्रोताओं और अनुष्ठानकर्ताओं की समझ में नहीं आता। (डब्ल्यू० ई० राय १८६७ ११७) उत्तर अमेरिका के विनबगो अपने जादू-नृत्य में साउक गीत गाते हैं। वहाँ न केवल गीत, वरन् उनकी गायन-पद्धति भी उन गीतो के साथ ही प्रसार पाती जाती है। वस्तुत प्रतिवेशी सस्कृतियों के जीवित समकालीन सदर्भ में प्रसार के उदाहरणों का न तो निर्देश ही कठिन है और न उन्हें उस उदाहरणों के रूप में स्वीकार कराने में कोई बडी असुविधा है। किन्तु प्रसारवाद यही तक सीमित नहीं है। उसकी केन्द्रीय स्थापना यह है कि प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक सामाजिक-सास्कृतिक परम्पराओं और उपकरणों का प्रसार होता रहा है। इससे उत्पन्न समानताएँ न केवल उन जातियों में मिलती है जो भौगोलिक दृष्टि से समीपवर्ती है वरन उनमें भी जो भौगोलिक दृष्टि से असम्बद्ध है, किन्तु जिनके बीच आवागमन की सुविधाएँ (या सम्भावनाएँ) विद्यमान है। यह सच है कि जिस तरह आज नवीनतम वैज्ञानिक सिद्धान्त और उपकरण कुछ महीनों या दिनों में विश्वव्यापी हो जाते है, उस तरह की सुविधा पूर्व युगों में विश्वासो, अनुष्ठानो या कहानियों का सुलभ नहीं थी। लेकिन पिछले इतिहास का आदमी आवागमन के वर्तमान साधनों की प्रतीक्षा में बैठा नहीं रहा है। वह हर युग में अपने लिए सुलभ साधनों का सफलतम उपयोग करता रहा है। दूरवर्ती प्रसार के दृष्टिकोण से बहुत शिथिल साधनों के युगों में भी सास्कृतिक सामग्री विशेष अपनी उद्भावक जाति तक ही सीमित नहीं रही है वरन अपनी पार्श्ववर्ती जाति द्वारा गृहीत हो जाने पर धीरे-धीरे ज्ञात से अज्ञात भौगोलिक क्षेत्रों में प्रवेश करती गयी है। द्वादश राशियों के द्वादश प्रतीकों से युक्त अँगूठियों का चलन टोगो (पश्चिम अफ्रीका) के नीग्रो लोगों के बीच है। वे उन प्रतीकों का न तो अर्थ ही जानते है और न इतिहास ही। लेकिन उनकी परीक्षा करने वाला हर व्यक्ति यह अनुभव कर सकता है कि वे वास्तविक राशि प्रतीक है।

लोकसाहित्य में प्रसारवाद का पहला प्रस्तावक सम्भवतः थियोडोर बेनफ़ है जिसने अपने पंचतंत्र के अनुवाद की भूमिका (१८५९) में यह कहा कि यूरोपिया की समस्त कथाएँ एक ही प्रसार-केन्द्र से चारों ओर फैली हैं और यह केन्द्र भारत है। यह बात उसने आज की विकसित अध्ययन विधि के आधार पर नहीं वरन् ज्ञात सामग्री की तुलना के आधार पर कही किन्तु यह पर्याप्त विचारोत्तेजक सिद्ध हुई। इसे जितना प्रबल समर्थन मिला उतना ही तीव्र विरोध भी। किन्तु इसके समर्थकों ने भी इसकी अतिव्याप्ति का अनुभव किया है और अपने काम के आधार पर बेनफ़ के समस्त विचारों को संशोधित कर 'अधिकांश' कर दिया। लेकिन यह संशोधित स्थिति कुछ दशक बाद स्वीकृत हुई। कास्कें की एतूद फोकलोरिक और ले कोन्त इंडियन ए ल ऑक्सिदान्त का प्रतिपाद्य यही है कि सभी यूरोपीय कथाएँ भारत की देन हैं। इसके विपरीत एक दूसरे प्रसारवादी जेकब्स (इण्डियन फेयरी टेल्स १८९२) की मान्यता यह है कि तीस से पचास प्रतिशत यूरोपीय कहानियाँ ही भारत से आयी हैं। वह यह कहता है कि परी कथाओं के मूल के सम्बन्ध में कोई निश्चित मत व्यक्त करना कठिन है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यूरोप की "सभी पशुकथाएँ और अधिकांश क्रमसंबद्ध कथाएँ (पृ० २३५) भारत से आयी हुई हैं। कास्कें और जेकब्स के विपरीत कुछ विद्वानों ने भारत से भिन्न प्रसार-केन्द्रों की कल्पना की और भारतीय लोककथाओं को ही मिस्र, यूरोप और मध्य एशिया से आगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया। स्वाभाविक है कि समानान्तरवादियों ने प्रसार-केन्द्र की कल्पना मात्र को असंगत बतलाया। उनके प्रवक्ता एण्ड्रू लैंग ने यह माना कि सभी लोककहानियाँ विभिन्न देशों में स्वतन्त्र रूप में आविष्कृत हुई हैं। उनमें मिलने वाला साम्य मात्र संयोगिक है क्योंकि उनकी रचना व्यक्ति ने नहीं, वरन् किसी सम्मिलित रूप में पूरे लोक ने की है।

आज लोककथाओं के स्वतन्त्र आविष्कार और सामूहिक रचना के तर्क विश्वास्य नहीं रह गये हैं। वस्तुतः जिन लोककथाओं, लोकगीतों, कहावतों या पहेलियों में केवल भाव या धारणागत साम्य है वे स्वतन्त्र आविष्कार हैं, किन्तु जिनमें भाव या धारणागत साम्य के साथ विवरणगत साम्य विद्यमान है, उन्हें अलग-अलग देशों में स्वतन्त्र रूप में आविष्कृत मानना असंगत है। वे व्यक्ति-विशेष की रचना हैं और अपने रचना क्षेत्र से अन्यत्र फैली हैं। घटनाओं की एक कलात्मक सरणि चाहे वह विशेष शब्दों का क्रमविधान हो या विशेष पात्रों और उनके कृत्यों का निश्चित व्यवस्थापन, किसी व्यक्ति की ही सृष्टि हो सकती है। लोकसाहित्य की रचना प्रक्रिया, अपने मूल रूप में, शिष्ट साहित्य की रचना प्रक्रिया से भिन्न नहीं है। लोकसाहित्य के सन्दर्भ में भी यह स्वीकृति अपेक्षित है

कि शिष्टसाहित्य की कृति की तरह इसकी प्रत्येक कृति किसी विशेष व्यक्ति द्वारा किसी विशेष काल और विशेष क्षेत्र में रची गयी है।

इसका अर्थ कृतिविशेष के संदर्भ में समुदाय की भूमिका को नकारना नहीं है। रचनाकार से पृथक होकर लोक में प्रवेश पाने के बाद कोई भी कृति यथावत नहीं रह जाती। वह पुनरचना और नवीकरण की उस अन्तहीन प्रक्रिया से गुज़रने लगती है जिसके कारण ही लोकसाहित्य शिष्टसाहित्य से भिन्न हो जाता है। यदि कोई कहानी या गीत सदियों तक जीवित रह जाता है तो मूलतः इसलिए कि वह सकालिक और बहुकालिक, व्यक्ति और समुदाय, तथा परस्पर भिन्न क्षेत्रों के स्तर पर अनुकूलित होते रहने की अशेष क्षमता रखता है। समय बदलते ही उसका मूल परिवेश—चाहे वह भाषिक ही क्यों न हो—बदलने लग जाता है। यदि वह एक ओर अपने प्रत्येक वाचक या कथयिता की तात्कालिक मनःस्थिति से प्रभावित होता है तो दूसरी ओर समुदायविशेष में आवृत्त होते रहने के कारण एक विशेष सामूहिक चरित्र भी अर्जित कर लेता है। नये क्षेत्र में प्रवेश पाते ही वह पूर्ववर्ती क्षेत्र के विशिष्ट भौगोलिक और सांस्कृतिक मकता को छोड़ कर अपेक्षित नये संकेत ग्रहण कर लेता है। अपने मूल स्वरूप के यथासम्भव संरक्षण के साथ विकल्पों का निरन्तर स्वीकार ही इसके अतिजीवन का सबसे बड़ा रहस्य है और यह अतिजीवन आगत वस्तु की यथावत स्वीकृति न हो कर उसका निरन्तर परिष्कार और पुनःसृजन है। अतएव सामूहिक रचना का किसी रहस्यवादी अर्थ में नहीं, वरन पुनरचना या पुनःसृजन के अर्थ में ही स्वीकार किया जाना चाहिए। संस्कृति के अध्येताओं ने न केवल लोकसाहित्य, वरन लोकजीवन के अन्य विषयों, जैसे धारणाओं और प्रथाओं के प्रसंग में भी परिवर्तन और रूपभेद के इसी तथ्य को परिलक्षित किया है। सप्ताह की धारणा मूलतः बबीलोनी है और इसके सात दिनों के नाम बबीलोनी देवताओं के थे जैसे नाबू, मर्दुक, इश्तर आदि। किन्तु अन्य क्षेत्रों में इस धारणा की स्वीकृति और प्रसार के साथ दिनों के नाम परिवर्तित होते चले गये तथा इसे ग्रहण करने वाली जातियों ने बबीलोनी देवताओं के अनुरूप प्रतीत होने वाले अपने देवताओं के नाम पर दिनों का नामकरण किया। ग्रीकों ने इन्हें हर्मिस, ज़ेउस, अफ्रोदीत आदि, रोमनों ने मर्करी, जूपिटर, वीनस आदि, तथा टयूटॉनिक जातियों ने वोडेन, थॉर, फ्रीजा, थार आदि नाम दिये। भारत में सप्ताह के दिनों के नामों की एक अलग तालिका स्वीकार की गयी।

लोककथाओं, गीतों या कहावतों में भावसाम्य को रूप या विवरणसाम्य से पृथक कर देखने की प्रस्तावना एक लम्बे विवाद को समाप्त कर देती है। उदाहरणार्थ दैत्य या दुष्ट व्यक्ति द्वारा पीछा किया जाने पर किसी जादुई साधन से

कथानायक की आत्मरक्षा का भाव बहुत-सी कहानियों और गीतों का विषय हो सकता है लेकिन कथानायक द्वारा भाग में दुरात्मा को बाधित करने के लिए (क) भारी-भारी एक पत्थर एक कंघी या कपड़ा, और एक बतन तरल पदार्थ फेंकना और (ग) उनका क्रमशः पहाड़ जंगल और जलाशय बन जाना ऐसा विवरण-सकुल है जो अलग अलग देशों में स्वतन्त्र रूप में आविर्भूत नहीं हो सकता। इसी प्रकार हिंस्र प्राणी के प्रति दया द्वारा उत्पन्न संकट और उससे निष्कृति की धारणा कई रूपों में व्यक्त हो सकती है किन्तु विपद्ग्रस्त हिंस्र पशु की किसी व्यक्ति से प्राणरक्षा के लिए प्रार्थना विपद्मुक्त हो जाने पर अपने रक्षक को खा जाने की तत्परता, रक्षक द्वारा आपत्ति किये जाने पर उस पर अपने को विपद् में डालने का मिथ्या आरोप आरोप की परीक्षा के लिए तीन पक्षों से निर्णय का अनुरोध और सहमति दो पक्षों द्वारा पशु का समर्थन और तीसरे पक्ष द्वारा बात नहीं समझने या न सुनने का बहाना आदि निश्चित क्रम में आने वाली ऐसी घटनाएं हैं जो स्वतन्त्र रूप में बार-बार कल्पित नहीं हो सकतीं। जो विवरण-सकुल जितना ही जटिल और विस्तृत होगा उसके सम्बन्ध में यह कहना उतना ही सरल होगा कि उसका क्षेत्रविशेष से प्रसार हुआ है।

अब ऐसी कहानियाँ, जो निश्चित विवरण-सकुल पर आधारित हैं कथाप्ररूप कही जाने लगी हैं। यद्यपि कथाप्ररूप दूर-दूर तक संप्रेषित और वाहित होते हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सभी कथाप्ररूप विश्वव्यापी या कि देशव्यापी हों। कहानियों का एक वर्ग ऐसा भी है जो क्षेत्रविशेष में ही सीमित रह गया है। लेकिन यही बात कथानकरूढ़ियों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। अमरीका की आदिम जातियों में भारोपीय मूल की कहानियों की संख्या बहुत सीमित है किन्तु ऐसी कथानकरूढ़ियों की संख्या बहुत अधिक जो सही मानें में विश्वजनीन हैं।

कथानकरूढ़ियाँ कहानी के वे तत्त्व हैं जो अपनी विशिष्टता के कारण अलग पहचाने जा सकते हैं। यह विशिष्टता उन्हें कथासमूह में विशेष प्रकार के पात्रों घटनाओं और धारणाओं के रूप में आवृत्ति के कारण प्राप्त होती है। लोकसाहित्य में उनकी स्थिति बहुत कुछ वैसी ही है जैसी संस्कृति के लक्षण और भाषा में गठनों की। जहाँ कई कथानकरूढ़ियों का विशेष संयोग कथाप्ररूप हो सकता है वहाँ एक ही कथानक रूढ़ि परस्पर भिन्न अर्थात् स्वतन्त्र कथारूपों में आयोजित मिल सकती है। दूसरी स्थिति को ग्रिमबन्धुओं के जर्मन कथासंग्रह की उन दो कहानियों के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है जिनमें 'गाने वाली हड्डी' के नाम से प्रसिद्ध एक ही कथानकरूढ़ि का उपयोग मिलता है। कहानियाँ इस प्रकार हैं —

छोटा भाई उस सुअर को मारने में सफल हो जाता ह जिसके पुरस्कार स्वरूप राजकुमारी से विवाह की घोषणा का गयी ह। सुअर लेकर लौटते समय बडा भाई छोटे भाई को मार कर जगल म गाड देता ह और वह मरा हुआ सुअर लेकर राजदरबार आता है और उसका विवाह राजकुमारी से हो जाता ह। कई बरस बाद एक गडरिया उसी जगल में झरने के किनारे एक चिकनी हड्डी पाता है और उससे अपनी शृंगी का ऊपरी भाग बनाता ह। वह हड्डी छोटे भाई की ह। गडरिया शृंगी बजाता ह तो उसके मुह से छोटे भाई की करुण कहानी बज उठती ह। वह इस अदभुत बाजे को उपहार के रूप म राजा को दे देता ह और उसके बजते ही हत्या का रहस्य उदघाटित हो जाता ह।

दूसरी कहानी 'जूनीपर वृक्ष' के नाम से प्रसिद्ध ह। यह महाकवि गेटे क 'फाउस्ट' के पहले भाग म मार्गरेट के प्रलाप के रूप म आयोजित भी हुई है। एक स्त्री अपनी सौतेली लडकी को मार डालती है और उसका मास राँध कर उसके पिता (अर्थात अपने पति) को खिला देती है। पिता मास की हड्डियाँ मेज के नीचे गिरा देता ह और छोटी बहन उन्हें चुन कर जूनीपर वृक्ष के नीचे छोड आती ह। उन हड्डियों से एक सुन्दर पक्षी बाहर आता है और अपनी कहानी गाते हुए उडने लगता है। सबको सौतेली माँ की क्रूरता मालूम हो जाती ह।

इस कथानकरूढि का मूल अभिप्राय मारे गये व्यक्ति का गायक वस्तु या प्राणी बन कर अपने प्रति किये गये अपराध का उदघाटन है इस दृष्टि से दोनो कहानियाँ एक जसी ह किन्तु इनमें भावसाम्य होते हुए भी रूपगत साम्य नही ह। य दो परस्पर भिन्न विवरण-सकुल ह और यदि इनमें से कोई कहानी विश्व के अलग अलग भागो में मिले तो यह नही कहा जा सकता कि वह मनुष्य की सार्वभौम मानसिक एकता का परिणाम है।

यदि उपर्युक्त आधार पर यह कहा जाता ह कि यूरोपीय कहानियों का एक उल्लेख्य भाग भारतीय ह तो इससे असहमत होने का कोई कारण नही। इसका अर्थ यह नही कि यूरोपीय मेधा लोककथाओं की रचना की दृष्टि से अनुर्वर है बल्कि यह मानना अतीत की एक सचाई को सच के रूप में स्वीकार करना है। ईसा की नवी से लेकर तेरहवी शताब्दी तक मध्य एशिया के माध्यम से भारतीय कहानियाँ यूरोप पहुँचती रही और वे अपने शिल्प तथा कथ्य के सौष्ठव के कारण स्वय यूरोपीय कहानियो की तुलना में अधिक लोकप्रिय हो गयी। वह काल इस्लामी संस्कृति के वभव का था। एक ओर क्रूसेड, हज और जेरूसलम की यात्राओं ने तो दूसरी ओर यूरोपीय देशो पर मुस्लिम विजय ने पश्चिम को पूरब के समीप ला दिया था। उस समय तक भारतीय कहानियाँ अरबी और फारसी म बहुत बडी संख्या में अनूदित हो चुकी थी—सच तो यह ह कि मौखिक

ग्रौर लिखित दोनों रूपों में मध्य एशिया के कथाकोश में सम्मिलित हो चुकी थी। भारतीय कहानियों की यूरोप यात्रा के दो भाग निर्दिष्ट किये जा सकते ह। पहला भाग एशिया माइनर तुर्किस्तान ग्रौर बाल्कन राज्यों में होकर यूरोप जाना था ग्रौर दूसरा मिस्र उत्तर ग्रफ्रीका सिसिली ग्रौर स्पेन होकर। दोनों भाग फारस ग्ररब क्षेत्र से पूरे थे। लेकिन इस क्रम में एक ग्रौर माध्यम का उल्लेख ग्रावश्यक है—वह है जिप्सी जाति। पहले यह ग्रनुमान किया जाता था कि जिप्सी दसवीं सदी में भारत से बाहर गये। लेकिन ग्रूम (जिप्सी पाथ ट स १८८८ पुन मुद्रण—१९६३) जो ग्रपने समय का सर्वश्रेष्ठ जिप्सीविद् था ग्रौर जिसके निष्कर्ष सामान्यत ग्रब तक प्रमाण माने जाते हैं इस ग्रनुमान से सहमत नहीं है। उसके ग्रनुसार जिप्सी भाषा में पाली ग्रौर प्राकृत शब्दों का ग्रस्तित्व इस बात का संकेत है कि जिप्सियों का भारत से ग्रौर भी पहले निष्क्रमण हुग्रा है। ग्रब यह माना जाने लगा है कि ये ग्रपने यात्रापथ में पड़ने वाले एशियाई ग्रौर यूरोपीय देशों में ग्रपनी मूल भूमि की कथाग्रों का प्रसार करते गये।

इस विवेचन से यह भ्रम हो सकता है कि प्रसारवादी भारतवादी है। किन्तु तुलनात्मक ग्रध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि यद्यपि ऐतिहासिक काल में लोककथाग्रों के प्रसार का सबसे बड़ा केन्द्र भारत था फिर भी उनके प्रसार के कुछ ग्रौर केन्द्र भी थे। पिछली कुछ शताब्दियों ने ग्रफ्रीका ग्रौर ग्रमरीका में फैलने वाली कहानियों का सबसे बड़ा केन्द्र यूरोप को बना दिया है। प्रसारवाद में ग्रपनी ग्रास्था के बावजूद वान सिडो (स्वेडन) को यह मानने में कठिनाई होती है कि जिन कथाग्रों को भारतीय मूल का माना जाता है, वे वस्तुत भारतीय ही हैं। ग्रन्य यूरोपीय विद्वान वान सिडो से सहमत होने में कठिनाई ग्रनुभव करते हैं। फिर भी ग्राज किसी भी कहानी के प्रसार-केन्द्र के सम्बन्ध में निर्णय देने से पूर्व पर्याप्त तुलनात्मक ग्रध्ययन की ग्रपेक्षा का ग्रनुभव किया जाने लगा है। ईसप की कहानियों के संदर्भ में इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है। ईसप की कहानियों का एक चौथाई भाग भारतीय स्रोत से गृहीत प्रतीत होता है। इसकी तेरह कहानियाँ जातकों में मिल जाती हैं जैसे भेड़िया ग्रौर मेमना लोमड़ी ग्रौर कौग्रा सोने के ग्रंडे देने वाली मुर्गी, इत्यादि। इसकी कई कहानियाँ महाभारत में हैं जैसे पेट ग्रौर इन्द्रियाँ किसान ग्रौर साँप ग्रादि। फिर भी एक विधा के रूप में नीति कथा के भारतीय होने की धारणा बहुत विवादास्पद हो गयी है। मिस्र में पेपीरस पर लिखी हुई सिंह ग्रौर चूहे की कथा मिली है जो १२०० ११६ ई० पू० की बतलायी जाती है। यह महाभारत ग्रौर ईसप दोनों में विद्यमान है। ग्रसुर-बनि-पाल के पुस्तकालय (बेबीलोन) में कीलाक्षरी शिलालेखों में चार नीतिपरक पशुकथाएं मिली हैं। इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण

घन्ना सधाउ द्वारा एनिफण्टाइन नामक स्थान में प्राप्त पेपीरस का प्रकाशन (१९११ ई०) ह। उक्त पपीरस पर प्रसिद्ध राजा मेनाकरिब के मंत्री ग्राहीकार के वचन अकित ह जिनमें नीतिकथाएँ भी सम्मिलित ह। इन वचना का समय अनुमानत ईसा पूव छठी शताब्दी ह। इनके अध्ययन से यह सकेत मिलता ह कि इस प्रकार की कथाएँ ईसा से कई शताब्दी पूव की ह। इससे यह तो प्रमाणित हा हा जाता ह कि नीति कथा ग्रीक आविष्कार नही है, लेकिन यह बात भी स्पष्ट हा जाती हैं कि इसे भारतीय आविष्कार सिद्ध करने के लिए और भी प्रमाण अपेक्षित ह। क्या यह अनुमान उचित नही ह कि ईसप और जातक की नीतिकथाओं का रूपात्मक, और उनम से अधिकाश रचनाओं का समान स्रोत कही और ह?

वस्तुत प्रसारवाद का व्यापक और वास्तविक अभिप्राय यही ह कि न केवल लोकसाहित्य की कथावस्तु वरन उसकी विधा और शिल्प का भी प्रसार हुआ ह। पचतत्र के कहानी के भीतर कहानी के शिल्प ने अलिफलैला के रचना विधान को प्रभावित किया है। क्रमसवद्ध सूत्र और शृखला कथा के शिल्प केन्द्र विशेष से ही फले ह। जहा इस बात को मानने के कारण ह कि कहानी और गीत मानव प्रकृति की किन्ही गहरी आवश्यकताओं स उत्पन्न ह वहा यही बात कहावत और पहेली के विषय में नही कही जा सकती। कहावत और पहेली का अस्तित्व एशिया, यूरोप और अफ्रीका म है। अफ्रीका की जन जातियाँ विशेष विशेष अवसरा पर इनका प्रयोग करती ह। जसे एक पड से जगल नही बनता तलवार से भागा और म्यान में छिपी वह कौन ह जो पहाड की चोटी से कूद कर भी चूर नही होता इत्यादि। यह अनुमान करना सरल ह कि कहावता या पहेलिया के रूप में भावाभिव्यक्ति मानव-स्वभाव ह किन्तु प्रमाण इसके विपरीत पडत ह। अमरीका की आदिम जातियो के लोकसाहित्य में कहावत और पहेली जसी कोइ चीज नही मिलती। वहाँ की माया और इनका—जसा उनत जातिया म भी इनका अस्तित्व नही रहा ह। इसस स्पष्ट ह कि कभी कहावत और पहेली जसी विधाएँ नही थी और व किन्ही प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियो द्वारा उदभावित हुई और चारो ओर फली। भौगोलिक पार्थक्य या मानव इतिहास में इनकी परवर्ती उद्भावना के कारण इन्हें अमरीका तक प्रसार का अवसर नही मिला।

इस सिद्धान्त को सबसे बडा समथन ऐतिहासिक भौगोलिक पद्धति से मिलता ह। यह पद्धति क्रोन पिता-पुत्र—जूलियस क्रोन (१६३५ १८८८) और कार्ले क्रोन (१८६ १६३३)—द्वारा फिनलण्ड के राष्ट्रीय महाकाव्य कालेवल के अध्ययन क्रम में उद्भावित हुई। कालेवल में लोक प्रचलित कथा विशेष म सम्बधित गाथाओं का एलियास लोनरोत द्वारा किया गया सकलन और व्यवस्थापन

है। लोनरात को इस लोक महाकाव्य के अस्तित्व का पता फिनलैण्ड की लोक कविता के संकलन के सिलसिले में चला था। इस महाकाव्य के गाथा-चक्र लोक गायकों के कण्ठ में जीवित थे। लोनरोत ने आरहिप्पा, परतुनन, मिइकाली आक्सेन्या आदि लोकगायकों से उन्हें प्राप्त किया और अपनी ओर से कुछ (गणना करने पर बहुत कम) पंक्तियाँ जोड़कर क्रमबद्ध कर लिया। संकलन और सम्पादन के इस प्रयत्न ने जो चमत्कार दिखलाया, वह था एक पूरा लोक महाकाव्य जिसके प्रकाशित होने (१८३५) के साथ ही पूरे फिनलैण्ड में राष्ट्रीयता का ज्वार फैल गया।

लोनरोत के शिष्य जूलियस क्रोन ने कालेवला का अध्ययन करते समय यह अनुभव किया कि इसकी विभिन्न गाथाओं के रचनाकाल और रचनास्थान का निर्धारण सम्भव है। उसकी अध्ययन विधि के विकास का ही परिणाम यह निष्कर्ष है कि *उनका उद्भव क्षेत्र इलमेन झील का पार्श्ववर्ती और फिनलैण्ड खाड़ी का दक्षिणी भाग था तथा उनकी रचना आदि फिन जाति के आदि-बाल्टिक जाति के सम्पर्क-काल* में अर्थात् २००० ४०० ई० पू० में प्रारम्भ हुई। उसने प्रत्येक गाथा के सभी रूपान्तरों का संकलन किया और उनकी हर रूढ़ि और तथ्य की बारम्बारता तथा भौगोलिक वितरण के आधार पर यह कहा कि हर गाथा के मूल रूप की कल्पना सम्भव है, केवल यही नहीं उसके रचना-काल और प्रसार-केन्द्र का निर्धारण भी सम्भव है। उसके पुत्र कार्ले क्रोन ने इस पद्धति का पशु कथाओं के अध्ययन में विनियोग किया और "लोकवार्ता की अध्ययन विधि (डा० फाकलोरिस्टिश आरबाइटमेथाडे १९२६) में इसे पूर्णता प्रदान की।

ऐतिहासिक भौगोलिक पद्धति की विशेषता प्रत्येक लोककथा या लोकगीत के सभी प्राप्य रूपान्तरों की तुलना द्वारा उसके मूल या पूर्वरूप का पुनर्निर्माण, *तथा उसके ऐतिहासिक और भौगोलिक संकेतों और क्षेत्रीय रूपान्तरों के मिश्रण* तत्वों के आधार पर उसके स्थान और काल का निर्णय करना है। उदाहरण के लिए जिस कथा में सिंह का उल्लेख मिलता हो, वह (इस भौगोलिक संकेत के कारण) भारतीय मूल की है। सामान्यतः भौगोलिक संकेत बदलते जाते हैं— *भारतीय कथाओं का कमल फारस में गुलाब और यूरोप में लिली बन जाता है* किन्तु हर भौगोलिक संकेत का बदल जाना आवश्यक नहीं है। यह स्थिति इस पद्धति के उपयोगकर्ताओं के लिए सहायक सिद्ध हो जाती है। इसी तरह यह माना गया है कि आश्चर्य-तत्वों के आधिक्य से युक्त कथा भारत ईरानी है। जिस प्रकार रचना के स्थान और काल के निर्णय में किसी कहानी का प्राचीनतम लिखित रूप सहायक हो सकता है, उसी प्रकार बल्कि उससे भी कहीं अधिक,

विचित्र और निरर्थक प्रतीत होने वाला विवरण। चीन को सिंड्रेला कथा में, जो अपने यूरोपीय रूपान्तर से सात सौ वर्ष पहले मुद्रित हुई थी नायिका को एक वृक्ष का आलिंगन कर सोई हुई दिखलाया गया है। चीनी कथा में इस विवरण की संगति स्पष्ट नहीं है, लेकिन जब इसके यूरोपीय रूपान्तरों में सिंड्रेला अपनी माता की कब्र से जन्मे वृक्ष से लिपटी हुई मिलती है तो इस विवरण का महत्त्व स्पष्ट होने लगता है। इससे एक बात का निर्णय हो जाता है—वह यह कि यह कथा मूलतः चीनी नहीं है। ऐतिहासिक भौगोलिक पद्धति द्वारा पैंतालीस कहानियों के विस्तृत अध्ययन के आधार पर कार्ले क्रोन ने यह मान्यता प्रकट की कि ऐतिहासिक काल में भारत और पश्चिम यूरोप कहानियों के प्रसार के सबसे बड़े केन्द्र रहे हैं।

प्रसारवाद के संदर्भ में बार-बार लोककथा के उल्लेख का अभिप्राय यह नहीं है कि लोकगीत का प्रसार नहीं होता बल्कि यही कि लोककथा की तुलना में इसका प्रसार बहुत सीमित है। लोककथा लोकसाहित्य की सबसे अनुवादक्षम विधा है। भिन्न भाषिक क्षेत्रों में जितनी सुगमता से यह फलती है, उतनी सुगमता से गीत नहीं। गीत की अन्तर्वस्तु (अर्थपक्ष) भाषा विशेष के लय विधान में बंधी रहती है। सामान्यतः इसका प्रसार उन्हीं भाषाओं में होता है जो पारिवारिक दृष्टि से सकालिक स्तर पर समीपी हैं और जिनकी संरचना इस प्रकार की है कि मूल लयविधान के साथ इसका भाषान्तरण सम्भव हो जाता है। यही कारण है कि जिन भाषाओं में इस प्रकार की भाषिक और संरचनात्मक समीपता मिलती है उनमें समान गीतों की संख्या भी अधिक होती है। इस प्रकार भाषिक वर्ग या उपवर्ग गीतों के प्रसार की सीमा हुआ करते हैं और उनकी दूरी के अनुपात में ही समान गीतों की संख्या घटती बढ़ती जाती है। साधारणतः यह कहना सच है कि संरचनात्मक समीपता का अर्थ भाषिक समीपता है लेकिन कुछ विशेष स्थितियों में इसका अपवाद सम्भव है। जहाँ पारिवारिक दृष्टि से एकदम भिन्न भाषिक समुदाय भी सदियों तक पड़ोस में या एक साथ रह जाते हैं, वहाँ उनकी संस्कृतियों के समीपीकरण की प्रक्रिया उनकी भाषाओं में उच्चारण या लयविधान के स्तर पर संरचनात्मक समीपता उत्पन्न कर सकती है। छोटा नागपुर को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यहाँ सादरी (आर्य) कुडुख (द्रविड) और मुण्डा (ऑस्ट्रिक) भाषी समुदाय कहीं साथ और कहीं पड़ोस में रहते हैं। उनके गीतों के लयविधान में समीपता दिखायी पड़ती है और इसलिए उनमें परस्पर अनूदित गीतों की उल्लेख्य संख्या मिल जाती है।

भाषिक व्यवधान को अतिक्रमित करने की क्षमता गीतों में कहीं अधिक

गाथाग्रो में मिलती ह। उत्तर भारत म भरथरी लारिक, ढालामारू ग्रादि गाथाग्रा का व्यापक प्रसार हुग्रा ह। इसका कारण इनक कथातत्व का ग्राकषण ग्रौर इसस लाककथाग्रा क ग्रधिक प्रसारक्षम हाने की बात का ही समथन होता ह।

सस्कृति क सदभ में प्रसार की समस्या पर विचार करत हुए ग्राएन्नर (मधान्डर एथनोलाजी १६११) न जा स्थापना की ह उसम भी उपयुक्त दृष्टिकाग को बल मिला ह लकिन उसका सामाए भी स्पष्ट हा गयी ह। ग्राएन्नर हर सास्कृतिक समानता का एनिहासिक सम्बन्ध का परिणाम मानता ह। उसक ग्रनुसार स्वतत्र ग्राविष्कार की धारणा ग्रात्मनिष्ठ ह वह जहाँ ह नही, वहाँ भी उसक हान की कल्पना सम्भव ह। यदि किन्ही उदाहरणा म ग्रपेक्षित प्रमाणा के सुलभ नही रहन के कारण एनिहासिक सम्बन्ध का निणय कठिन प्रतीत होता ह तो इसका ग्रथ यह नही कि उन उदाहरणा म उसका ग्रस्तित्व ही नही ह। जहाँ ग्राशिक समानताए मिलती ह वहाँ भी वस्तुनिष्ठता का तकाजा यही ह कि हम ऐनिहासिक सम्बन्ध की कसौटी का ही उपयाग करें।

सास्कृतिक समानतायें या ता भौगोलिक दृष्टि से ग्रविच्छिन्न रूप में उपस्थित मिलती ह या ता विच्छिन्न रूप मे। व एक ग्रोर सम्बद्ध क्षेत्रा म दिखायी देता ह तो दूसरी ग्रोर ग्रसम्बद्ध क्षेत्रो म। पहली स्थिति का व्याख्या कठिन नही ह। दूसरी स्थिति म भी यह ग्रनुमान किया जा सकता ह कि व कभी ग्रन्तराल प्रतीत होन वाल क्षत्रो में विद्यमान थी ग्रौर ग्राज समाप्त हो गयी ह। यह भी कहा जा सकता ह कि सम्प्रति एतिहासिक प्रमाण सुलभ नही होन क कारण ही कुछ क्षत्रो को ग्रसम्बद्ध कह दिया जाता रहा है। हम मनुष्यता के इतिहास को पाँच हजार या ग्रौर भी कम वर्षो की ग्रवधि म सीमित कर देखन के ग्रभ्यस्त हा गय ह जब कि वह दस लाख वप पुराना ह। हम ग्रभी मनुष्य की ढाई सौ पीढ़ियों की चर्चा करते ह जब कि इस पथ्वी पर उसकी पचास हजार स भी ग्रधिक पीढ़ियाँ गुजर चुकी ह। यदि मानव जातिया के बीच सम्बन्धो की बहुत-सी कडियाँ ग्रतीत के धुध में खो गयी ह तो इसका ग्रथ यह नही होता कि व थी ही नही। पहल नयी दुनिया को पुरानी दुनिया से एकदम भिन्न माना जाता था ग्रौर उनके बीच एतिहासिक सम्बन्ध की चर्चा कपालकल्पना कह दी जाती थी। लकिन ग्रब यह विश्वास किया जान लगा है कि ग्रमरीकी जनजातियाँ मगोलियन ह। हिमयुग के ग्रन्त में वे एशिया स उत्तर ग्रौर पूरब की ग्रार स ग्रमरीका गयी थी। ग्रमरिका क विभिन्न क्षत्रा में उनको प्रथम ग्रावास मिला ह जिनका काल रडियो कावन विश्लेषण द्वारा नौ हजार ईस्वी पूव निर्धारित हुग्रा ह। ग्राज भी उनक बीच वस विश्वास जीवित ह जा एशिया में भी मिल जाते हैं। तावीज मत्र जादू

क माध्यम के रूप में विशेष विशेष वस्तुओं का उपयोग रजस्वला का भय शामन आदि पुरानी दुनिया से प्राप्त रिक्थ के व अंश ह जो नयी दुनिया में, भौगोलिक पार्थक्य की अवधि में स्वतन्त्र रूप में विकसित होते गये हैं ।[१] इसलिए यदि अमरीका की जनजातियों में कुछ एशियाई कहानियाँ मिल जाती है तो असम्बद्ध क्षेत्रों में उनकी उपस्थिति को स्वतन्त्र आविष्कार या मनुष्य की मानसिक एकता का परिणाम बतलाने की कोइ आवश्यकता नही हैं । इससे कही अधिक वनानिक अमरीका और एशिया क कालम्वसपूव सम्बन्ध सूत्रों का एक वास्तविकता क रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता ह । साइबेरिया का कोर याक और उत्तर अमरीका की तुल्का लिंगिन हाइदलत्सूक आदि जातियों के मन्थ्या और कृष्णकाक विषयक मियों की तुलना करते हुए जाकेल्सन कहता ह कि उनक बीच विचारा का निरन्तर और घनिष्ठ सम्पक और आदान प्रदान था ।''[२] 'निरन्तर और घनिष्ठ सम्पक और आदान प्रदान की धारणा को अति रजित कहा जा सकता ह, लेकिन सम्पक और आदान प्रदान की धारणा का नही । इसा प्रकार अब सुदूर पूव एशिया के कुछ भागों—मुख्यत मलय-पालि नशियन भागों से अमरीका के पुराने सम्बन्धों का स्वीकार किया जाने लगा ह । प्रमाण क रूप में आरफियस की कथा से मिलती-जुलती उन कहानियो का उल्लेख किया जा सकता ह जा जापान और उत्तर अमरीका म प्रचलित हैं ।

जापान की आरफियस कथा इस प्रकार है—

इजानागा अपनी पत्नी इजानामी क साथ यामा सूकूनी (छायाओं का देश अर्थात पाताल) जाता ह । इजानामी पाताल का खाद्य ग्रहण करती ह अतएव वह वहा से नही लौट सकती । इजानामी क अनुरोध करने पर उस इस शत पर लौटने की अनुमति मिल जाती ह कि पति उसे माग में पलट कर नहा देखेगा । इजानामा इस निषेध का पालन नही कर पाता । अपने का आश्वस्त करने क लिए वह रास्ते में पलट कर दखने लगता हैं ता उसे इजानामी का चयिष्णु और विकृत शव दिखाई पडता ह और वह भयात होकर दौड़ने लगता ह । उसका पत्नी जो इस निषेध को ताडने के कारण पिशाची बन जाता ह उसका पीछा करने लगती ह । इजानामी रास्ते में फल गिराते हुए भागता ह । इजानामी और उसकी साथिनें फलों को चुनने के लिए बीच-बीच में रुकती जाती ह जिससे वह भाग निकलने में सफल हो जाता ह । वह दुष्ट आत्माओं का बाहर आने से रोकने क लिए पाताल के द्वार पर एक शिलाखण्ड रख देता ह ।

---

१ रूथ एन अण्डरहिल रेड्मन्स रेलिजन १९६५ १४

२ द माइथॉलॉजी आव द कोरयाक अमेरिकन ऐंथ्रापालॉजिस्ट : खण्ड ६, सख्या ४ १९०४ ४२५

जूनी जाति (उत्तर अमरीका) की आरफियस कथा कशिंग के 'जूनी फाक टल्स' (२८ ३०) में संकलित है। पति अपनी मृत पत्नी की छाया के पीछे-पीछे उसके वेश में बँधे पंख के संकेत का अनुसरण करते हुए पाताल पहुँचता है। पत्नी एक शर्त पर वहाँ से लौटने को तयार हो जाती है वह यह कि पति मार्ग में उसका चुम्बन नहीं करेगा। पति इस निषेध का पालन नहीं करता है और पत्नी फिर पाताल लौट जाती है।

अमरीका के इस कथारूप का संकलन जेसुइट पादरियों ने सत्रहवीं सदी में किया था। इसमें यूरोपीय सांस्कृतिक तत्वों का अभाव है इसलिए इसे कालक्रम परवर्ती सम्पर्क का परिणाम मानना कठिन है। इसके अनेक रूपान्तर मिलते हैं जिनमें मृतात्मा पति या पत्नी है और उसकी खोज में पाताल में प्रवेश करने वाले पात्र या पात्रों के रूप में पति पत्नी या पत्नियाँ का उल्लेख है। कुछ रूपान्तरों में मृतात्मा के पृथ्वी पर लौट आने की चर्चा भी मिलती है।

किन्तु क्या समानताएँ हर स्थिति में ऐतिहासिक सम्बन्ध या प्रसार का ही परिणाम होती हैं? हमने यह देखा है कि लोकसाहित्य में भाव या धारणागत साम्य के रूप में समानान्तरवाद विद्यमान है तथा सामान्य और विच्छिन्न रूपात्मक समानताओं के रूप में भी इसे स्वीकार किया जा सकता है। लेकिन इसके प्रस्तावकों ने इसको इस अर्थ में स्वीकार नहीं किया था। उन्होंने इसके आधार पर सभी प्रकार की सामान्यताओं की व्याख्या करनी चाही थी किन्तु उपयुक्त विवेचन से इसकी सीमाएं स्पष्ट हो जाती हैं। वस्तुतः हम जिस प्रकार की समानताओं—भाव या धारणागत सामान्य और विच्छिन्न समानताओं—के अर्थ में इसे स्वीकार करना चाहते हैं उस अर्थ में समाभिरूपता शब्द का प्रयोग कहीं अधिक सार्थक होगा।

मानवीय विचार और कार्य की सम्भावनाओं की अपनी सीमाएँ हैं। दूसरे शब्दों में विचार और कार्य के क्षेत्रों में मनुष्य के पास जो विकल्प हैं वे अपनी संख्या की विशालता के बावजूद परिमित हैं। यही परिमिति लोकसाहित्यिक—और सांस्कृतिक—समानताओं की व्याख्या करती है।

कभी-कभी नितान्त भिन्न कारणों के परिणाम भी समान हो जाते हैं। यदि दलदली इलाकों में टालों पर घर मिलते हैं तो रेगिस्तानी इलाकों में भी मात्र मरुस्थल से बचाव के लिए इसी प्रकार के घर मिल जाते हैं। यह भी सम्भव है कि जीवनयापन की परिस्थितियों की एक विशेष दिशा में अभिमुखता अत्यन्त दूरवर्ती क्षेत्रों में सांयोगिक समानताओं का रूप ग्रहण कर लें। केवल बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति में ही नहीं, वरन् विभिन्न प्रकार की वैचारिक समस्याओं के समाधान में भी मानवजातियाँ समान परिणाम तक पहुँचती हुई देखी गयी

है। सृष्टि की व्याख्या में भाववाद और भौतिकवाद, द्वैतवाद और अद्वैतवाद आदि दृष्टिकोण सर्वत्र मिल जाते हैं। इनके विकास की भूमिकाएँ जो भी रही हों, इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन भूमिकाओं के अन्तिम परिणाम एक—जैसे और तुलनीय रहे हैं। अतएव समाभिरूपता को संस्कृति की एक प्रकृतिगत विशेषता मानकर ही कुछ समानताओं की व्याख्या की जा सकती है। भाषा में इस समाभिरूपता के प्रचुर प्रमाण सुलभ हैं। यौन लिंग भारोपीय परिवार की भाषाओं की एक समान विशेषता है। यह इस परिवार की पड़ोसी सेमेटिक और हेमेटिक भाषाओं में भी मिलता है किन्तु चीनी, यूराल अल्ताई, जापानी, द्रविड, मलय पालिनेशियन, बंटू, तथा अन्य अनेक अफ्रीकी और अमरीकी भाषाओं में इसका अस्तित्व नहीं है। लेकिन यह दक्षिण अफ्रीका की होत्तेनतात तथा उत्तर अमरीका का प्रशान्त महासागर-तटवर्ती शिनूक, पामा और कोस्ट सलिश भाषाओं में विद्यमान है। इसी प्रकार, भारोपीय भाषाओं की तरह ही मलय-पालिनेशियन, एस्किमो और अनेक अमरीकी भाषाओं में द्विवचन का प्रयोग मिलता है। इन समानताओं की व्याख्या किसी भौगोलिक या ऐतिहासिक सम्बन्ध के दर्शन के आधार पर नहीं की जा सकती। व्याकरण भाषा का सर्वाधिक अपरिवर्तनीय और अप्रभावी अंग है। एक परिवार की भाषा के शब्दों का दूसरे परिवार की भाषा में प्रसार होता है, लेकिन भौगोलिक सन्निकटता की स्थिति में भी एक भाषा के व्याकरण की आवयविक विशेषताओं का दूसरी भाषा के व्याकरण में संक्रमण कठिन है। भाषिक तरंग सिद्धान्त की अपनी सीमाएँ हैं। वस्तुतः इस प्रकार की समानताएँ समाभिरूपी (कान्वर्जेण्ट) विकास का ही परिणाम हैं।

लोकसाहित्य में पूरे विवरण-संकुल का साम्य रखनेवाली रचनाओं तथा कठोरतया गठित एवं सुनिश्चित शिल्प वाली विधाओं और उप विधाओं के धरातल पर तो नहीं किन्तु पूरे पैटर्न से अलग कर देखे गये विवरणों और सामान्य भावात्मक—वैचारिक समानताओं के अतिरिक्त बहुत सामान्य नम्य बंध विधाओं के धरातल पर यह समाभिरूपता सम्भव है। यह फिर से प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं कि पहेली, सूत्रकथा, क्रमसंवृद्ध कथा, कहावत आदि सुनिश्चित और बारीक बुनावट वाली विधाओं का प्रसार हुआ है, किन्तु लोकप्रबन्ध और लोकनाटक जैसी बहुरूपान्तरी और एक अतिसामान्य संकल्पना के रूप में गृहीत विधाओं के क्षेत्रों में समाभिरूपता मिल जाती है। मगही, भोजपुरी, बँगला, ओड़िया और छत्तीसगढ़ी में लोक प्रबन्ध हैं, लेकिन इन भाषिक क्षेत्रों से घिरी हुई और इनके निरन्तर सम्पर्क में रहने वाली छोटा नागपुर की आदिम जातियाँ न तो लोरिकायन कुँवर विजयमल और गोपीचन्द—जैसे लोकप्रबन्धों को अपना ही सकीं और न इनके समानान्तर किसी गीतविधा का विकास ही कर सकीं

है। अफ्रीका और अमरीका की हर आदिम जाति में इस विधा का अभाव है। लेकिन मलेनेशिया की सृष्टिगाथाएँ अपनी विशालता और क्रमविधान में एशिया और यूरोप के लोकमहाकाव्यों की समकक्षता करती हैं। उनमें सृष्टि का विकास और देवताओं के कृत्य अत्यन्त उदात्त और गम्भीर शैली में वर्णित मिलते हैं। इसी तरह हर जाति को लोकनाटक नहीं मिला है। यूरोप और एशिया की गैर आदिम और मणिपुर की आदिम जातियों के अतिरिक्त अफ्रीका की अशान्ती और थागा तथा अमरीका की प्यूलो चरोकी और विनवगो-जैसी गिनी चुनी आदिम जातियों में ही विकसित लोकनाटक मिलते हैं। व्याख्या के रूप में यह कहा जा सकता है कि जिन दूरवर्ती जातियों में लोकप्रबन्ध और लोकनाटक मिलते हैं उनकी लोककविता और अभिनयमूलक अभिव्यक्तियाँ उन दिशाओं की ओर अभिमुख रही हैं जिनमें इस प्रकार की विधाओं का विकास सम्भव है।

●

सस्कृति का स्वरूप

मनुष्य न केवल वस्तुजगत क विषय म वरन स्वय अपने विषय में भी परिभाषाए गन्ता और ताडता रहा ह। सदियो तक यही काय करने के बावजूद वह आज भी एक स्वल्प परिभाषित प्राणी बना हुआ है। अब, जब कि नान के नय चितिज निरन्तर उदघाटित होते जा रहे ह और पहले की तरह किसी अन्तिम और पूग नान को कल्पना अस्वीकृत हा गयी ह यही मानना अधिक सगत हागा कि सापेच रूप में यह स्थिति सम्भवत सदव बनी रहगी।

पिछली दो शताब्दियो में उसकी कुछ नयी परिभाषाएँ विकसित हुई ह। उनमें एक यह है कि मनुष्य सस्कृति निर्माता प्राणी ह। यह परिभाषा उसके सम्बध में प्रचलित कई परिभाषाओ स अधिक सगत ह क्याकि सस्कृति उसकी निजी उपलब्धि है एक वसी विशेषता जिसमें किसा दूसरी जीवजाति की साझे ारी नही ह। इसका कारण यह है कि सस्कृति की व्याख्या न तो केवल जविकता के आधार पर की जा सकती ह और न केवल सामाजिकता के आधार पर। यह बात दूसरी ह कि न क्वल मनोवनानिक, वरन कुछ मानववनानिक भा इसकी प्रकृति का विश्लेषण केवल सहजप्रवत्तियो और जवी प्रवेगो के आधार पर करते रहे ह। जसे यह कहा गया ह कि 'मानवजाति का ववाहिक सस्था काई पथक घटना नही ह वरन् इसका प्रतिरूप कई पशु जातिया में विद्यमान है और यह शायद किसी प्राक् मानव पूवज से प्राप्त विरासत ह। (वेस्टरमाक मानव विवाह-सस्था का इतिहास, प्रथम खण्ड १९२२ ७२) यह सही ह कि अय जावजातिया की तरह मनुष्य म भी यौन भावना पायी जाती ह लेकिन इससे अधिक-से अधिक यही प्रमाणित होना ह कि उनकी तरह उसमें भी युग्मन की प्रवृत्ति विद्यमान ह। इससे न तो विवाह-सस्था की व्याख्या की जा सकती ह और न विश्व में फले विवाह प्ररूपा की। इनकी व्याख्या सास्कृतिक इतिहास का अपेक्षा में ही सम्भव ह इसका अथ यह नही कि सस्कृति का जैविकता से कोई सम्बध नही बल्कि यहा कि यह जविकता का बन्ताव होते हुए भी उसका अति क्रमण ह। जवी आनुवशिकता के आधार पर सस्कृति की व्याख्या नही की जा सकती क्याकि यह आनुवशिकता न होकर अजन ह।[1]

---

१ "आनुवशिकता चीटी के लिए पीढी-दर-पीढी वह सब सुरक्षित रखती ह जा कि उसे प्राप्त ह। लेकिन आनुवशिकता सम्यता के एक कण, एक विशिष्ट मानव प्राणी को भी कायम नही रखती और न रख सकी है क्याकि यह (उसे) कायम नही रख सकती ह। (क्रोबर १९१७ १७८)

इसी प्रकार केवल सामाजिकता के आधार पर भी संस्कृति की व्याख्या असम्भव हो जाती है, क्योंकि मनुष्य से भिन्न जीवजातियों में भी सामाजिकता है। मानवाकार वानरजातियाँ सामाजिक हैं और व्यूहलर तथा अन्य जीव वैज्ञानिकों ने यह बतलाया है कि उनमें मनुष्य की तरह ही बुद्धि, अन्तर्दृष्टि और रचनात्मकता—जैसी शक्तियाँ प्राप्य हैं। इसके बावजूद वे संस्कृतिरहित हैं। इसके विपरीत संस्कृतिरहित मानव समाज एक असम्भवता है। इसका एक कारण बतलाया गया है मानव मस्तिष्क का विशेष स्वरूप। इससे मनुष्य में प्रतीकीकरण की क्षमता उत्पन्न हुई है किन्तु इस क्षमता से भी बड़ा कारण भाषा है। संरक्षण और संवहन की वह विशुद्ध मानवीय प्रक्रिया जो संस्कृति को सम्भव बनाती है भाषा का ही अवदान है। अन्यथा व्यक्ति के स्नायविक गठन में बस जाने वाले विचार और व्यवहार के सामूहिक अभ्यास कभी सम्भव नहीं हो पाते।

ये बातें अपने आप में इतनी स्पष्ट और स्वीकार्य हैं कि इन पर बहस की कोई विशेष सम्भावना नहीं है। सबसे बड़ी कठिनाई संस्कृति शब्द के अभिप्राय के सम्बन्ध में है। इसके सामान्य से लेकर शास्त्रीय प्रयोग तक विवादास्पद बने हुए हैं। यही कारण है कि कुछ समाजवैज्ञानिकों ने इसके अर्थगत अनिश्चय के कारण इसके प्रयोग का बहिष्कार ही उचित माना है। लेकिन यह एक आत्यन्तिक धारणा है। यह शब्द सामाजिक विज्ञानों में एक ऐसी केन्द्रीय स्थिति प्राप्त कर चुका है जिसके चारों ओर समाज, व्यक्तित्व आदि संकल्पनाओं का गठन किया गया है। ऐसी स्थिति में इसके अर्थ की व्याप्ति का निर्धारण कहीं अधिक उचित है। वस्तुतः अर्थ का यह विशेषीकरण या परिसीमन उच्चतर ज्ञान की अनिवार्यता है, क्योंकि पारिभाषिक महत्त्व के शब्द विश्लेषण, तुलना और मूल्यांकन के उपकरण बन जाते हैं। वे जितने पारदर्शी होंगे उतने ही वे इन कार्यों के उपयुक्त सिद्ध होंगे।

इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा द्वन्द्व संस्कृति और सभ्यता के अर्थ को लेकर है। टायलर जिसने गुस्टाफ क्लेम (१८०२-६७) द्वारा पहली बार प्रयुक्त संस्कृति शब्द के अभिप्रायों को गठित कर आज के सामाजिक विज्ञानों को एक नया संकल्पना दी अपनी पुस्तकों में कहीं संस्कृति कहीं सभ्यता और कहीं संस्कृति या सभ्यता—जैसे प्रयोग करता है। किंतु आगे चल कर मानवविज्ञान दर्शन आदि में इनके पार्थक्य की स्वीकृति पर बल दिया जाने लगता है। यह बात दूसरी है कि सामान्य व्यवहार में और कभी-कभी उच्चतर ज्ञान के क्षेत्र में लेखकों द्वारा अपनाये गये दृष्टिकोण के कारण इनका एक दूसरे के पर्याय वाची के रूप में प्रयोग बना हुआ है।

इसका कारण सभ्यता और सस्कृति द्वारा व्यक्त अभिप्रायो की वह समानता ह जिसका उपयोग कर इनका वकल्पिक रूप में प्रयोग किया जा सकता ह। सभ्य श-द का आरम्भिक अथ ह सभा का सदस्य। लेकिन इस केन्द्रीय अथ से अनक सामान्त अथ विकसित हो जाते ह और वे कालान्तर में इसका स्थान अधिकृत कर लेते ह। तब यह कहा जाने लगता ह कि सभ्य वह ह जो सभा में वन्न का पात्र हो अथात जो सुशिक्षित और सामाजिक प्रतिमानों का पालन करने वाला हो। इस तरह वह परिष्कृत और सुरुचिसम्पन्न यक्ति का पर्याय हो जाता ह। यदि सभ्यता इस परिष्कार और सुरुचि का भाव या स्थिति (-ता) है तो क्या नही यह किसी समाज या काल की सर्वोच्च और समस्त कलात्मक-वचारिक उपलब्धियो की अभिधा बन सकती ह? प्राय सस्कृति द्वारा जिस विशिष्ट अर्थ (मानसिक परिष्कार) का व्यक्त करने का प्रयास किया गया ह, वह एक बडी सीमा तक, सभ्यता द्वारा भी यक्त हो जाता ह। इसीलिए डा० देवराज की तरह एकबारगी यह नही कह दिया जा सकता कि सस्कृति "मानव यक्तित्व और जीवन को 'समृद्ध करने वाली' 'चिन्तन तथा कलात्मक सजन का क्रियाएँ' या 'मूल्यो का अधिष्ठान' मात्र ह।[1] व जो कुछ सस्कृति के विषय में कहते ह वही, सभ्यता शब्द में प्रच्छन्न अथगत सम्भावनाओ का विस्तार करने पर उसके सम्बन्ध में भी कहा जा सकती ह—बल्कि कही जाती रही ह।

इस द्वन्द्व से निष्कृति का उपाय यही ह कि टायलर द्वारा विकसित सस्कृति की यापक सकल्पना को स्वीकार कर लिया जाय। टायलर इसे वह जटिल इकाई (मानता ह) जिसक अ तगत ज्ञान, विश्वास, कला आचार, विधि, रीति और अ य वे क्षमताएँ और अभ्यास सम्मिलित हैं जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के रूप म अर्जित करता ह।' (१८७१ प्रिमिटिव कल्चर प १) इस तरह वह यह प्रतिपादित करता ह कि सस्कृति सामाजिक परम्परा से अर्जित चिन्तन, अनुभव और व्यवहार—सक्षेप में, मानसिक और क्रियात्मक व्यवहार—की समस्त रीतियो को समष्टि ह। यह सकल्पना मनुष्य के अध्ययन क लिए पर्याप्त महत्त्वपूण सिद्ध हुई हैं और परवर्ती मानववज्ञानिको की कायप्रणाली का आधार रही है। यह उनक द्वारा प्रस्तुत इनकी परिभाषाओ म भी स्पष्ट हैं। उदाहरणाथ, यह कहा गया है कि इस सम्ब ध में मलिनोव्स्की की स्थिति भिन्न रहा ह किन्तु अपने पूववर्ती मानववज्ञानिको से दृष्टिगत भेद क बावजूद उसने सस्कृति का जो परिभाषा दी है वह टायलर की परिभाषा से बहुत भिन्न नहीं ह 'सस्कृति के अन्तगत वशागत शिल्प-तथ्यो वस्तुओ तकनीकी प्रक्रियाओ धारणाओ अभ्यासो तथा मूल्यो का समावेश हो जाता ह' (एनसाइक्लोपीडिया

---

१ साहित्य कोश प्रथम सस्करण (१९५८ ई०) ८०१-८०२

आव साशल सामन्जस्य (१६३१ ६२२) यही बात लिण्टन, क्लक्हान आदि के विषय म भी सत्य ह ।

इस सकल्पना का स्वीकार कर लन पर संस्कृति की उस सकुचित धारणा को बदलने की अपेक्षा हो जाती ह जो इसे मानसिक पक्ष या मूल्या तक सीमित कर देती ह और जो समुदाय विशेष द्वारा निर्मित एव व्यवहृत वस्तुओं तथा आचरित रीतियो और प्रथाओं को बाह्य या स्थूल मानकर उन्हें इससे पृथक करने का आग्रह करती ह । वस्तुत हमारे विचार प्रयोजन और मूल्य ही हमारे क्रियात्मक व्यवहारो और उपलब्धियो का रूप ग्रहण करते ह । इसलिए संस्कृति को आंतरिक और बाह्य—व्यक्त और अव्यक्त इन दो पक्षो में विभाजित कर देखने की आवश्यकता ह । व्यक्त संस्कृति रीतियो प्रथाओ, आचारो, कलाओं और विभिन्न प्रकार के शिल्प तथ्यो का समष्टि ह तो अव्यक्त संस्कृति इन रूपों में व्यक्त होने वाले मूल्यो और प्रयोजनो का समाहार । क्लक्होंन ने इन दोनो के लिए क्रमश पटन और सरूप (कॉनफिगुरेशन) शब्दो का प्रयोग किया ह । 'लोग जो करते ह या उन्हें जो कुछ करना चाहिए, उसका सामान्यीकरण पटन ह व क्या कुछ विशेष प्रकार के काय करते हैं या उन्हें (क्यो) उन कार्यों को करना चाहिए इसका सामान्यीकरण सरूप ह । (१६४१ १२४) सरूप वह ह जिसमें सभी रूप समाहित हो जाते ह । इस प्रकार यह संस्कृति विशेष की प्रेरक प्रवत्तियो या अभिप्रायो की समष्टि का ही दूसरा नाम ह । समाज के सदस्य के रूप में मनुष्य जो कुछ भी करता या सोचता ह वह अभिप्रायो और मूल्यो की विशेष पष्ठभूमि से सलग्न रहा करता ह । यह बात दूसरी ह कि वह हर स्थिति म उन्हें नही समझ पाता क्योकि न केवल व्यवहार, वरन विचार, मूल्य आदि भी उसे परम्परा म प्राप्त होते ह और वह उनके प्रति इस सीमा तक अनुकूलित हो जाता ह कि व उसके सहज अभ्यास बन जाते ह ।

इसका अभिप्राय यही होता ह कि संस्कृति साथक या साभिप्राय होती ह । इसे समझने के लिए इसकी पष्ठभूमि म काम करने वाले अभिप्राय गुच्छो को समझना आवश्यक ह । पिछले तीन चार दशको म मानववनानिको ने संस्कृति क इस अथ या मूल्य पक्ष पर पर्याप्त विचार किया ह और क्योकि यह विचार पृथक पृथक संस्कृतियो के सन्दभ में हुआ ह इसलिए इस विषय की दशन शास्त्र की उन पुस्तको से कही अधिक प्रामाणिक और विश्वास्य ह जो जीवित सांस्कृतिक सन्दर्भों की उपेक्षा कर कुछ सावभौम निष्कष निकाल लेती ह ।

डा० देवराज ने अपने 'संस्कृति का दाशनिक विवेचन (नर विज्ञानकृत संस्कृति की व्याख्या १४२—१४७) में जो कुछ लिखा हैं, उसका अभिप्राय यही होता है कि मानवविज्ञान (—नर विज्ञान) का संस्कृति विषयक सकल्पना

विवरणात्मक है और इसका न तो मूल्य विवेचन से सम्बन्ध है और न मूल्यांकन से। सच तो यह है कि मानवविज्ञान द्वारा प्रस्तुत संस्कृति की संकल्पनाओं या परिभाषाओं में कुछ विवरणात्मक हैं, तो कुछ मनोवैज्ञानिक कुछ आदर्शात्मक हैं तो कुछ गठनात्मक। क्रोबर, क्लक्होंन, आप्लर आदि के कार्यों से पूरा परिचय होने पर उन्होंने यह नहीं लिखा होता कि नर विज्ञान का पण्डित मूल्यांकन के प्रश्न से कतराता है। (पृ० १४४) यदि मानवविज्ञान मनुष्य की सभी क्रियाओं को महत्वपूर्ण मानता है (समान रूप में महत्त्वपूर्ण नहीं, जैसा कि डा० देवराज ने लिखा है) तो इसका कारण यही है कि यह मनुष्य की एक समग्रतामूलक संकल्पना प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। दार्शनिक साहित्यकार या शिक्षा-शास्त्री को जो मनुष्य के पक्षविशेष का अध्ययन करता है यह अधिकार है कि वह संस्कृति को समग्रता में न देख कर इसके इस या उस भाग पर बल दे और अपनी एतद्विषयक संकल्पना का गठन करे, क्योंकि संकल्पनाएँ या परि-भाषाएं सदैव शास्त्र या विज्ञान विशेष के प्रयोजन के अनुसार निर्मित होती हैं। लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि हाथी का पाँव हाथी नहीं है।[1]

संस्कृति सामाजिक मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी वास्तविकता है। इसी साधन के द्वारा वह परिवेश के साथ अपना समायोजन करता है। उसके द्वारा अपनी संस्कृति को अर्जित करने का—संस्कृतीकरण की—यह प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है। लेकिन जीवन के आरम्भ से ही अपने को संस्कृति विशेष में पाने के कारण वह शायद ही इस अपने ऊपर आरोपित अनुभव करता है। पूर्व प्रस्त होने के कारण वह सहज हो जाती है। इसका चेतन धरातल पर अनुभव तभी होता है जब मनुष्य अपने से भिन्न संस्कृति के सम्पर्क में आता है।

संस्कृति विभिन्न पक्षों (जैसे—धर्म भाषा, संगीत अर्थव्यवस्था, परिवार आदि) में विभाजित रहती है, किन्तु इसके सभी पक्ष परस्पर सम्बद्ध और

---

१ डा० देवराज का यह आरोप भी गलत है कि मानवविज्ञान केवल आदिम समाजों में रुचि में लेता है और जिस ढंग से यह विज्ञान अब तक अग्रसर होता रहा है उससे यह कभी ऊँचे समाजों तथा संस्कृतियों का स्वरूपावगाहन कर सकेगा, इसमें सन्देह है। (वही १४६) यदि मानवविज्ञान मनुष्य का समग्रता में अध्ययन करने वाला विज्ञान है तो सिद्धान्त के रूप में यह मानना होगा कि आदिम और गैर आदिम, ग्राम्य और नागर—सभी प्रकार की संस्कृतियाँ इसके विषय हैं। इस आरोप पर विस्तार में विचार करना प्रस्तुत निबन्ध की सीमा से बाहर पड़ता है अतएव यहाँ इसकी अयुक्तता का संकेत भर है। (विशेष के लिए द्रष्टव्य—रेडफील्डकृत पेजेंट सोसाइटी एण्ड कल्चर १९६१ ई०)

सकेन्द्रित होते हैं। इसकी व्यवस्था और नियमितता ही इसे वैज्ञानिक अध्ययन का विषय बनाती है। अध्येताओं ने इस विशेषता (न्यूनतम सार्थक इकाइयों) और विशेषक-संकुला में विभाजित कर यह निर्दिष्ट किया है कि यह विश्लेषण गम्य है। प्रत्येक संस्कृति विशेषक-संकुला की एक सुनिश्चित इकाई है। यह स्वीकृति हमें इस निष्कर्ष तक पहुँचने में सहायता करती है कि संस्कृति अध्ययन के उपयोग के लिए गढ़ी गयी एक संकल्पना है जब कि संस्कृतियाँ वास्तविकता हैं। हर संस्कृति का अपना एक विशिष्ट चरित्र है और यह उसे दूसरी संस्कृति से भिन्न बना देता है। विभिन्न समुदायों के तुलनात्मक अध्ययन का एक महत्व पूर्ण निष्कर्ष यह है कि किन्हीं पूर्वकल्पित सार्वभौम विश्वासों, धारणाओं और मूल्यों की अपेक्षा सापेक्ष विश्वासों धारणाओं और मूल्यों की चर्चा कहीं अधिक सार्थक है। मानसिक होते हुए भी मूल्य अपने परिणत अथवा व्यवहृत रूप में वस्तुनिष्ठ होते हैं। मूल्य-व्यवस्था को व्यवहार-व्यवस्था से—इसके आचरित होने के सामाजिक संदर्भ से विच्छिन्न कर देखना वस्तु स्थिति का वैसा सरलीकरण है जो किसी भी मूल्य को सार्वभौम कह देने की सुविधा प्रदान कर देता है। दोनों व्यवस्थाओं को एक दूसरे से जोड़ कर देखने पर यह प्रतीत होगा कि मानवजाति की बहुप्रचारित मानसिक एकता का दर्शन पुनर्विचार की अपेक्षा रखता है। आवश्यकता नहीं कि यह पुनर्विचार इसकी पूरी अस्वीकृति का रूप ग्रहण करे किन्तु यह किन्हीं रहस्यवादी और गोल मटोल ग्रंथों में सभी धर्मों का 'समान चेतना या सभी मानव जीवन मूल्यों की 'अभिन्नता की चर्चा स्थगित कर देने की प्रस्तावना तो बन ही जाता है।

विभिन्न संस्कृतियों के अध्ययन की तुलनात्मक सांख्यिकी यह बतलाती है कि मानवजातियाँ एक ही वास्तविकता का मूल्यांकन अलग अलग रूपों में करती हैं। सुन्दर और कुरूप शिव और अशिव, सार्थक और निरर्थक आदि धारणाओं और मूल्यों के सम्बन्ध में उनमें पर्याप्त मतभेद हैं। वस्तुतः हम जिस दुनिया में जीते हैं, वह कोई निरपेक्ष और हमारे आवेग से अरंजित "शुद्ध वास्तविकता नहीं है। वह हमारी अपनी संस्कृति द्वारा परिभाषित हुई है, बल्कि यह कहना चाहिए कि परिभाषित रूप में ही हमें प्राप्त हुई है। इस सचाई और इसके वैचारिक अभिप्रायों को—जिन्हें सम्मिलित रूप में सांस्कृतिक सापेक्षतावाद कहा गया है—सामाजिक विज्ञानों और मानविकी में वह महत्व नहीं मिला है जो कि इसका प्राप्य है। सांस्कृतिक सापेक्षतावाद मनुष्य की आशंसा में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर सकता है। इसे कुछ उदाहरणों द्वारा संकेतित किया जा सकता है।

भारतीय दस दिशाओं की कल्पना करते हैं जब कि यूरोपीय चार की और

अमरीका के प्यूलो इण्डियन छह की। प्यूला पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के अतिरिक्त ऊपर और नीचे को भी दिशाएँ मानते हैं। यूरोप में काला रंग शोक का प्रतीक है, किन्तु प्लेन्स इण्डियनों में विजय और उल्लास का। चीन में श्वेत रंग शोक का प्रतीक है, जब कि चेरोकी जाति में दक्षिण दिशा का। भिन्नता का यह स्थिति कला-सम्बन्धी धारणाओं से लेकर सामाजिक रीतियों और प्रथाओं तक विद्यमान है। हमारे संगीत में राग और लय दोनों महत्वपूर्ण हैं, लेकिन बहुत-सी अफ्रीकी जातियों के संगीत में केवल लय महत्वपूर्ण है। उनकी दृष्टि में राग अधिक से अधिक लय का सहायक है। यूरोपीय संस्कृति एकपत्नीत्व को आदर्श मानती है और इस्लामी संस्कृति बहुपत्नीत्व को जब कि भारत की कुछ जातियों में बहुपतनीत्व आदर्श भी है और व्यवहार भी। इस तरह प्रति[illegible] मानों की सार्थकता स्थानीय या क्षेत्रीय होती है और उनके सम्बन्ध में हर संस्कृति के अपने तर्क हैं जिन्हें वह अकाट्य मानती है। यदि उन तर्कों की परीक्षा उस संस्कृति की जीवनदृष्टि के सन्दर्भ में की जाये तो उसकी सार्थकता और संगति स्पष्ट हो जायेगी। यह बात दूसरी है कि हम जो भिन्न [illegible] सन्दर्भों में जीते हैं उनसे सहमत नहीं हो पायेंगे। किन्तु हमारी यह [illegible] हो विचार और व्यवहार-व्यवस्थाओं की—मूल्यों और आचारों की [illegible] सबसे बड़ा तर्क बन जाती है।

संस्कृति के अध्येताओं के लिए इस सापेक्षतावाद के अनेक [illegible] जाते हैं।

जब हर संस्कृति एक स्वतन्त्र कार्यात्मक इकाई है तो न तो [illegible] को श्रेष्ठ कहा जाना चाहिए और न हीन न तो महत्त्वपूर्ण और [illegible] इसलिए मूल्यांकनपरक विशेषणों के रूप में आदिम और [illegible] प्रयोग चिन्त्य है। जब हम कुछ जातियों को आदिम कहते [illegible] अभिप्राय यही होता है कि हमारे समकालीन जीवन की [illegible] हरण हैं अर्थात हम तो बदलते रहे हैं, लेकिन वे जहाँ [illegible] सच तो यह है कि वे जातियाँ भी बदलती रही हैं और [illegible] प्रणाली के उदाहरण नहीं हैं। यह सोचना भी भ्रम [illegible] संस्कृति सरल होती है और आधुनिक संस्कृति जटिल। [illegible] प्रकार बहुसंख्य विशेषकों और विशेषक-संकुलों में [illegible] संस्कृति। हर संस्कृति के कुछ विशेष पक्ष उसके [illegible] विकसित और विस्तृत होते हैं और यदि आधुनिक [illegible] कुछ पक्ष वैविध्यपूर्ण और जटिल हैं तो आदिम [illegible] आस्ट्रेलियन कबीलों के कुल-सम्बन्ध सूचक शब्दों [illegible]

है (फाल्केनबर्ग विन गाड टोम्स १९६२) कि उनकी समृद्धि और वैभव निवता की तुलना में हमारी अपनी भाषाएँ अति चिन्तन प्रतीत होती हैं।

इसका एक अभिप्राय यह भी है कि हर संस्कृति का अपना विशेष साँचा है। अन्य संस्कृतियों के प्रभाव उसी साँचे में ढल कर—रूपान्तरित होकर उसका अंग बनते हैं। वे प्रभाव जो उसकी प्रकृति के मेल में नहीं होते उसके द्वारा अस्वीकृत हो जाते हैं। इस प्रकार परसंस्कृतीकरण—एक संस्कृति द्वारा दूसरी संस्कृति के प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क के माध्यम से प्राप्त, प्रभावों का ग्रहण—जो कला दर्शन धर्म आदि क्षेत्रों में दिखायी पड़ता है कभी निष्क्रिय नहीं होता। यह कहना संगत नहीं है कि केवल सबल और सक्रिय संस्कृतियाँ ही दुर्बल और निष्क्रिय संस्कृतियों को प्रभावित करती हैं। कोई भी संस्कृति निष्क्रिय नहीं होती और न वह सम्पर्क द्वारा प्राप्त प्रभावों को अनुकूलित और रूपान्तरित किये बिना ग्रहण ही करती है। जिन्हें सबल संस्कृतियाँ कहा गया है वे वस्तुतः सफल संस्कृतियाँ हैं और इतिहास इस बात का साक्षी है कि वे भी अपने द्वारा पराजित संस्कृतियों से प्रभावित हुई हैं। ऋग्वेद में व्यक्त आर्यसंस्कृति का बहुत कुछ ऐसा है जो अनुमानतः आर्येतर जातियों के सम्पर्क से आया है। आधुनिक काल में ब्राज़ील में पुर्तगीज़ों को एक ओर स्वयं उनके द्वारा बसाये गये नीग्रो जाति के विश्वासों रीतियों और कलाओं ने प्रभावित किया है तो दूसरी ओर वहाँ के मूल निवासी रेड इण्डियनों ने। इस सम्बन्ध में किसी सर्वमान्य नियम का निर्धारण कठिन होने पर भी यह कहा जा सकता है कि परसंस्कृतीकरण सदैव चयनात्मक होता है और यह चयनात्मकता संस्कृति विशेष के आन्तरिक गठन द्वारा निर्णीत होती है।

किन्तु इस सिद्धान्त के अनेक अभिप्राय विवादास्पद हैं। सांस्कृतिक सापेक्षता वाद के नाम पर आदिम संस्कृतियों के विषय में यथास्थितिवाद की प्रस्तावना की जाती रही है। इसके प्रस्तावक उन्हें संग्रहालय की वस्तुएँ बनाये रखना चाहते हैं, जैसे नहीं बदलना ही संस्कृति का स्वभाव हो। सच तो यह है कि हर संस्कृति अधिक उपयोगी विकल्पों के उपस्थित होने पर प्रचलित व्यवहार विधियों का त्याग कर देती है। ये विकल्प उसके आन्तरिक परिवर्तन द्वारा भी उत्पन्न होते हैं और बाह्य सम्पर्क या प्रसार द्वारा भी सामने आते हैं।[1]

---

१ 'जातिविज्ञान यह बतलाता है कि सांस्कृतिक चुनाव की विस्तृत सम्भावनाएँ उपस्थित होने पर सभी जातियाँ पत्थर के कुल्हाड़े की अपेक्षा लोहे के कुल्हाड़े मंत्र चिकित्सा की अपेक्षा कुनैन और पेनिसिलिन वस्तुविनिमय की अपेक्षा द्रव्य, मनुष्य द्वारा ढुलाई की अपेक्षा पशु और यान परिवहन आदि के प्रति अभिरुचि दिखलाती हैं।' (मडक १९६५ १४९ ५०)

किन्तु इस सिद्धान्त का सबसे विवादास्पद अभिप्राय मानव प्रकृति की एकता का अस्वीकार है। क्या इसका अर्थ यह नहीं होता कि मानव समाज और संस्कृति में सामान्यक (समान तत्व) नहीं होते? इसके प्रवक्ता एक सीमित अर्थ में अन्तर्सांस्कृतिक सामान्यकों और समानताओं को स्वीकार करते हैं। वे यह कहते हैं कि विपक्षों और विशेषकों की दृष्टि से विचार करने पर संस्कृति मात्र में समानताओं का निर्देश सम्भव है। मलिनास्की ने बुनियादी आवश्यकताओं और उनसे उत्पन्न क्रियाओं की एक ऐसी प्रकार की सूची प्रस्तुत की है। लेकिन इस सिद्धान्त के समर्थक समानता या सामान्यक का अर्थ संस्कृतियों में प्राप्त न्यूनतम तत्त्व अथवा हर (कामन डिनामिनेटर) से अधिक और कुछ नहीं मानते, क्योंकि भाषा, समाज परिवार आदि रिक्त धारणाएँ हैं वैसी धारणाएँ जो सांस्कृतिक सन्दर्भों में अपनी भिन्नता के कारण कोई सपाट या एकरूप संकल्पना नहीं बन पाती। लेकिन सामान्यकों के अस्तित्व को रिक्त धारणा से कहीं अधिक गहरे अर्थ में—जैविक मनोवैज्ञानिक अर्थ में स्वीकार किया जाना चाहिए। इस स्वीकार के अभाव में यह सापेक्षतावाद भी उतना ही अतिवादी हो जाता है जितनी कि मानवीय एकता की अद्वैतवादी धारणा। इस सिद्धान्त के ही एक अनुलोम भाषागत सापेक्षतावाद के प्रसंग में बेंजामिन ली वूफ ने भाषानिरपेक्ष और मनुष्य मात्र में समान 'अवरभाषिक स्तर' का उल्लेख किया है। इस प्रसंग में एथनालाजी (१९६५) में प्रकाशित ने मिनटन के 'ए क्रासकल्चरल लिंग्विस्टिक एनेलिसिस आव फायड्यिन सिम्बालम' (२-६ ३४२) तथा इरविन एल० चाइल्ड और लियोन सिरादो के 'बाक्वेले ऐण्ड अमेरीकन ईस्थेटिक इवलूएशन्स कामपयर्ड' (३४९-३६०) के निष्कर्षों की चर्चा की जा सकती है।

पहले निबन्ध में यह जानने का प्रयत्न है कि भाषाओं में शब्दों के लिंग सम्बन्धी वर्गीकरण के पीछे यौन प्रतीकवाद काम करता है या नहीं और यह भी कि यह प्रतीकवाद सार्वभौम (अन्तरसांस्कृतिक) है या केवल भारोपीय भाषाओं तक सीमित माना जा सकता है। फ्रायड ने जिन यौन सत्ता प्रतीकों के आधार पर इसकी सार्वभौमता या व्यापकता की परीक्षा की थी, वे मुख्यतः अप्रसम (अवनामल) स्त्रियों के स्वप्नों से गृहीत थे। किसी निर्विवाद निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक था कि प्रसम स्त्री-पुरुषों के स्वप्नों के आधार पर इसकी परीक्षा की जाये। ले मिन्टन ने इसीलिए कल्विन हॉल द्वारा संकलित कालेज के प्रसम छात्रों और छात्राओं के स्वप्न प्रतीकों को अपना आधार बनाया। उसने हाल की सूची के चौवन पुरुष और साठ स्त्री प्रतीकों (सनापर्टों) का नितान्त भिन्न भाषिक परिवारों की भाषाओं में अनुवाद किया। उसने इन शब्दों का अनुवाद भारोपीय परिवार की फ्रेंच जर्मन रूसी ग्रीक आयरिश और मराठी सेमेटिक परिवार

की अपेक्षा अमरिंडियन परिवार की टपूलिका हायागन और नागा और सा हमेटिक परिवार की हाउसा में किया। उनके परीक्षण की पद्धति के अन्तर्गत उन शब्दों को विचारणीय नहीं माना गया जिनके तुलना के लिए चुनी गयी किसी एक भाषा में भी अलग अलग लिंगों के दो पर्याय मिल गये। इसी तरह अनूदित रूप में जिन शब्दों का एक पर्याय स्त्रीलिंग या पुल्लिंग का और एक नपुंसक लिंग का मिला उनमें केवल दो लिंग वाले शब्दों का ही विचार मान्य माना गया। चुनी गयी भाषाओं के शब्दों के लिंग की बारम्बारता की परीक्षा के बाद जो सांख्यिकी उपलब्ध हुई वह इस प्रसंग में उनके बीच स्पष्ट प्रतिरूप संगति को सिद्ध करती थी। स्पष्ट यह संकेत मिलता है कि अन्तरभाषिक स्तर पर यह प्रतीकात्मकता विद्यमान है।

दूसरे निबन्ध में बागा गगनन की बहुभाषी जाति बाक्बने द्वारा प्रयुक्त मुखौटों के उत्तालीस फोटोग्राफों के प्रति स्वयं इस जाति के विभिन्न वय के सोलह सदस्यों और न्यू हेवन (अमरीका) के कलाविशेषज्ञों की प्रतिक्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन मिलता है। विचारित फोटोग्राफों का आकार समान (५" × ७) था किन्तु उनमें सबों का कलात्मक स्तर एक जैसा नहीं था। यह सही है कि उनकी बाक्वन और अमरीकन अभिरुचियों में महत्वपूर्ण भेद मिले लेकिन दो भिन्न समुदायों की अभिरुचियों में पर्याप्त सहमति का भी पता चला। लेखकों ने अपनी सांख्यिकी तुलना के बाद यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है उन सोलह (बाक्वनें) व्यक्तियों में से अधिकांश की सहमति की, न्यूहवन के कलाविशेषज्ञों की सहमति से महत्वपूर्ण अनुरूपता थी। (३५६)

इसलिए जब रमण्ड फर्थ यह कहता है कि जिस प्रकार प्राविधिक कुशलता के सार्वभौम मानदण्ड हैं उसी प्रकार सौन्दर्यात्मक विशेषता के सार्वभौम मानदण्ड (१६५१ १६१) तो वह मानव प्रकृति के एक समान रूप में संगत पहलू की ओर संकेत करता है। वस्तुतः सांस्कृतिक सापेक्षता को सांस्कृतिक गठन की विशिष्टता के अर्थ में स्वीकार किया जाना चाहिए न कि उसकी अद्वितीयता के अर्थ में इस सापेक्षतावाद को एक प्रकार का निरपेक्षतावाद बना देने वाले मानवशास्त्रिक संस्कृतियों को असम्बद्ध और अतुलनीय इकाइयों के रूप में प्रस्तावित करते रहे हैं। लेकिन यह मान लेने पर संस्कृति का विज्ञान एक असम्भावना बन जाता है। इस विचारधारा की एक दूसरी सीमा भी है। यह शताब्दियों तक बाह्य सम्पर्क से दूर रह गये समाजों की भूमिका में जितनी संगत दिखायी पड़ती है, उतनी दीर्घ सम्पर्क की प्रक्रिया से गुजरने वाले समाजों की भूमिका में नहीं। हम जिस युग में जी रहे हैं, वह बढ़ते हुए अन्तरसांस्कृतिक सम्पर्कों—

परसस्कृतीकरण—का युग ह और उसमें विभिन्न समुदायो में सावभौम हरा या सामायकों का वृद्धि की कल्पना निराधार नही मानी जायेगी।

मुख्य प्रश्न यह ह—सास्कृतिक सापेक्षतावाद से प्राप्त तथ्य और उनक ठीक विपरीत पन्न वाली स्थितियाँ हमें किस निष्कष तक ले जाती है ? क्या उसी निष्कष तक कि मानव सस्कृतियाँ अभिन्न ह मानव मूल्य एक जसे ह ? मैं समझता हू कि सामायका की स्वीकृति सापेक्षतावाद की अस्वीकृति नही ह। इसका अस्वीकार अवनानिक ह, क्योकि यह असख्य और अकाट्य प्रमाणों पर आधारित है। दोनों दृष्टियों की सम्मिलित उपलब्धि यह ह कि सभी मानव मूल्य सावभौम नही ह और जिन मूल्या को सावभौम माना जा सकता ह वे अभिन्न या तदरूप न होकर समतुल्य ह और यह भी कि किन्हीं मूल्या का सावभौम कहने से पहले हमें विभिन्न सस्कृतियो में उनकी स्थिति की परीक्षा कर लनी चाहिए।

मनुष्य एक साथ कई आयामा में जीता ह। उसका एक आयाम उसकी जविक आनुवशिकता ह, वह एक विशेष जीवजाति का सदस्य ह और इसका उसकी शारीरिक-मानसिक क्रियाओ और अनुक्रियाओ से बहुत गहरा सम्बन्ध ह। उसका दूसरा आयाम उसका प्राकृतिक परिवेश ह जा उस अस्तित्व की सुविधाए देता ह और असमाप्य चुनौतियाँ भा। इसस समायाजन और इसका अनुकूलन करता हुआ ही वह आगे बढता आया है। उसका तीसरा आयाम उसकी सस्कृति ह जिसे वह सकालिक और ऐतिहासिक, दोनो स्तरो पर एक साथ जीता ह और जिसे व्यक्ति रूप में वह कभा सम्पूणता म ग्रहण नही कर पाता। वह इसे अर्जित करता ह क्योकि यह परम्परा ह वह इसम समायाजन करता ह क्योकि यह उसकी सामुदायिक और समकालीन वास्तविकता ह। सस्कृति की पारम्परिकता और सामुदायिकता दोना इतनी महत्वपूण ह कि य इसे आधिवैयक्तिक और आधिसामाजिक दोनों बना दती ह। यदि इसके इन पहलुओ का औचित्य स अधिक महत्व दिया जाये ता इसका स्वरूप वही हो जाता ह जो क्रोबर के आधिजविक (द सुपरआर्गेनिक) शीषक निबन्ध में प्रस्तावित हुआ ह।

क्रोबर द्वारा लिखित द सुपर ऑर्गेनिक (अमेरिकन ऐंथ्रापालाजिस्ट IXX १९ ७ १६२–२१३) का मूल प्रतिपाद्य यह ह कि सस्कृति आधिजविक होती ह। आधिजविकता की यह धारणा पहले भी अपरिचित नही थी। क्रोबर स पहले हबट स्पेन्सर न भी सस्कृति क लिए इसी विशेषण का प्रयाग किया था। उसने विकास के तीन रूप माने थे—अजविक जविक और आधिजविक। आधिजविक से उसका तात्पय जविक का अतिक्रमण नही वरन समाज के रूप में उसका बढाव ह। किन्तु क्रोबर ने यह सिद्ध किया कि यह (समाज) जविकता निरपेक्ष ह। यह सच ह कि यह मनुष्य की सभी उपलब्धिया की समष्टि है,

मनुष्य ही इसका वाहक है और वह इसी में जीता है, किन्तु यह अपने आप में एक (स्वतंत्र) इकाई है। × × × (इसका) तत्त्वतः न तो व्यक्ति मनुष्य से कोई सम्बन्ध है और न मनुष्यों के योग से जिस पर कि यह टिकी हुई है। इसका अर्थ यही है कि संस्कृति निर्वैयक्तिक है और इसके विकास के अपने नियम हैं जिन पर व्यक्ति का कोई नियन्त्रण नहीं है। इसलिए इसके स्वास्थ्य का अध्ययन इसकी सीमा में जीने वाले व्यक्तियों पर विचार किये बिना भी सम्भव है। संस्कृति की इस आधिजविकता या निर्वैयक्तिकता के—दूसरे शब्दों में, सांस्कृतिक नियतिवाद के प्रमाण के रूप में उसने समानान्तर आविष्कार के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। डार्विन और वलेस एक दूसरे के कार्य से एकदम अपरिचित थे, लेकिन उन्होंने एक ही समय जबकि विकासवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। परस्पर अपरिचित अलेक्ज़ेण्डर बेल और एलिशा ग्रे ने एक ही समय टेलीफोन का आविष्कार किया। आविष्कारों और अनुसंधानों की यह समानान्तरता इतनी विलक्षण है कि उनमें अधिकतम स्थितियों में पूर्ण समकालिकता दिखलायी पड़ती है। इस आधार पर यही सोचना संगत है कि संस्कृति की आन्तरिक सम्भावनाओं के एक विशेष बिन्दु पर पहुँच जाने के बाद ही ये अनुसंधान सम्भव हो पाते हैं। इन्हें ऐतिहासिक अनिवार्यता के रूप में देखने की आवश्यकता है, व्यक्ति विशेष की प्रतिभा या विशुद्ध संयोग के रूप में नहीं। यह स्वीकार प्रतिभा का अवमूल्यन नहीं है वरन् इस सत्य का आख्यान है कि महान या प्रतिभाशाली व्यक्ति ऐतिहासिक अनिवार्यता को चरितार्थ करने के माध्यम से भिन्न और कुछ नहीं।

क्या यह धारणा व्यक्ति को विवश और निष्क्रिय नहीं बना देती? सामान्य रूप में यह सच है कि व्यक्ति अपनी संस्कृति द्वारा निर्णीत होता है और यही उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति का क्षेत्र निर्धारित करती है। यह भी सच है कि संस्कृति व्यक्ति या व्यक्तियों से अधिक बड़ी होती है। इन बातों को मानते हुए भी यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि व्यक्ति मशीन का बेजान पुर्जा भर है। इसके अनेक कारण हैं। व्यक्ति समाज और संस्कृति की व्यवहार इकाई है—उसी के माध्यम से उनकी निरन्तरता का वहन और कार्यान्वयन होता है। लोकसाहित्य और संस्कृतिविज्ञान मात्र के लिए इस बात का बहुत महत्त्व है कि व्यक्ति और व्यक्तित्व किसी समरूप यथार्थ के नाम नहीं हैं। एक ओर वैसे व्यक्ति हैं जो बिना किसी जिज्ञासा या तर्क वितर्क के परम्परा को सहज क्रिया के रूप में बरतते हैं तो दूसरी ओर सीमित संख्या में ही सही, वैसे व्यक्ति भी जो उसके प्रति सजग और उसके पक्ष विशेष को अधिकृत करने में अभिरुचि रखने वाले होते हैं। आदिम से आदिम समाज में भी हर व्यक्ति शामन या जादूगर नहीं होता। यह विशेषता वर्गों और उपसमाजों से बने गैर आदिम समाजों में और

भा मत्वर और वविध्यपूण हा जाती ह। इसी प्रकार के व्यक्तिया को परम्परा का सक्रिय वाहक कहा जाता ह। वे परम्परा के जड अनुकर्ता नही हाते। सम्मिलित रूप में उसके मामान्य पथ का अनुसरण करते हुए भी वे रचनात्मक होते हैं।

●

सस्कृति मतवादों की भूमिका में

सस्कृति का मस्त्पना म कम विवादास्पद वे सिद्धान्त नहा ह जा इसके अध्ययन के सगत दृष्टिकोण के रूप में प्रस्तावित और प्रयुक्त होते रहे हैं। उनमें कुछ सिद्धान्त अपनी चरम परिणति मे उपनिवेशवाद के तकशास्त्र बन गय ह। *भौगोलिक नियतिवाद और प्रजातिवाद इसी प्रकार के मतवाद ह*, और यदि य यूरोपीय देशा म लोकप्रिय रह ह तो यह अकारण नही ह।

भौगोलिक या वातावरणिक नियतिवाद बहुत पुराना ह। इसका उपयोग यूरोपीय जातिया की श्रेष्ठता सिद्ध करन क लिए किया जाता रहा ह। व्यक्त सस्कृति के सीमित भाग—खाद्य-सामग्री वस्त्र भवन प्रारूप आदि की व्याख्या वातावरण के आधार पर की जा सकती ह किन्तु इसे प्रजातीय मनोविज्ञान सांस्कृतिक गठन और जाति विशेष की प्रगति के निर्णायक के रूप में स्वीकार करना अपनी मान्यताओं का पुष्टीकरण मात्र ह। वातावरण से मनुष्य जितना प्रभावित होता ह उससे कहीं अधिक वह उसे प्रभावित करता ह। वातावरण उसकी रचनात्मक ऊर्जा की अभिव्यक्ति की कच्ची सामग्री भर ह क्योंकि न तो वस्त्र की सामग्री परिधान की शैली का निर्धारण करती ह और न खाद्य-सामग्री पाकविधि और भोजन प्रकार का। इस सिद्धान्त के प्रवक्ताओं न अवसर यह भी कहा ह कि उष्ण प्रदेशो की सस्कृति यथास्थितिवादी और प्रगतिशील हुआ करती ह। यदि यह सच ह तो भारत तथा अन्य एशियाई देशों को न तो यूरोपीय प्रभुत्व से मुक्त होना चाहिए था और न प्रगति करने में समर्थ हो।

सस्कृति का प्रजातीय सिद्धान्त उतना भी विचारणीय नहीं है जितना कि वातावरणिक नियतिवाद। इसकी मूलभूत मान्यता यह ह कि विभिन्न प्रजातियो की मानसिक क्षमता और ऐतिहासिक भूमिका म भेद का मुख्य कारण उनका रक्त या रगभेद ह। सस्कृति और इतिहास गोरी प्रजातियो की रचना ह। अन्य (अथात काली और पीली) प्रजातिया अपनी प्रकृति स ही हीन और निष्क्रिय ह—वे कर्ता न होकर कुल और नियामक न होकर निर्णीत हैं। उनकी जैविक सरचना ही यह बतलाती ह कि वे गोरी प्रजातिया की दासता और आदेश पालन के लिए बनी ह। किन्तु सस्कृति का सम्बन्ध प्रजाति क रग से न होकर सामाजिक आर्थिक शक्तियो से ह। जैविक सरचना और मानसिक क्षमता की दृष्टि स सभी प्रजातियाँ एक जसी ह और यदि किसी प्रजाति का सास्कृतिक स्तर अधिक उन्नत ह और किसी का कम तो इसके मूलो की खोज प्रजाति-

विशप की सामाजिक आर्थिक व्यवस्था में की जानी चाहिए। इतिहास इस बात का साक्षी ह कि अवसर मिलने पर सभी प्रजातियाँ आगे बढी ह।

सच तो यह ह कि जब तक सस्कृति को मनुष्य की सामाजिक-सास्कृतिक भूमिका में रख कर नही देखा जाता, तब तक न तो इसके स्वरूप की ही सही जानकारी हो सकती हैं और न इसके गतिविज्ञान की ही। इस दृष्टि स इसके सगत अध्ययन का पहला प्रयत्न टायलर का ह जिसने इसको विकासवादी धारणा प्रभावित की और इस क्रमिक स्थितियो में विभाजित कर देखा। सस्कृति की यह विकासवादी धारणा डार्विन 'जीवजातियों का विकास (१८५६) से नही आयी थी, वरन अठारहवी शताब्दी स ही, किसी-न किसी रूप में चली आ रही थी। यह काट और काम्त दोनों में विद्यमान थी। काट ने मनुष्य को एक प्रगतिशील प्राणी के रूप में देखा और इस प्रगति को उसमें अन्तर्भूत जीवाणुओं और प्राकृतिक प्रवृत्तियो" का परिणाम माना। उसन इतिहास पर विचार करते हुए यह कहा कि व्यक्ति मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा स विभिन्न प्रकार के कार्य करत हुए भी प्रकृति की एक निश्चित और प्रगतिशील योजना की पूर्ति करत ह।[1] जिस कोम्त स टायलर प्रभावित हुआ था उसने भी मानव इतिहास का विकास की तीन (धार्मिक → दार्शनिक → विधेयात्मक) स्थितियो में विभाजित किया और उन्ह प्रगति के प्राकृतिक नियम का फल कहा। उसने पशुता स भेदक विशेषता के रूप में जिस मनुष्यता की कल्पना की सस्कृति की कल्पना क समकक्ष ह और यह भी कहा कि इन क्रमिक स्थितियो से ही मनुष्य, मनुष्यता के आदर्श को उपलब्ध करता है।

काट और काम्त, दोनो ने मानव विकास की प्रवृत्ति को प्राकृतिक अर्थात मानवीय सम्भावनाओं और ऐतिहासिक शक्तियो में सन्निहित माना। टायलर में, भौतिक नियमो के रूप में इतिहास के नियमो की यह धारणा, कोम्त से प्राप्त हुई। उसन आदिम सस्कृति (१ १८७१) में कहा कि सास्कृतिक विकास के नियमों का तथ्यमूलक अन्वेषण ही मनुष्य के अध्ययन को व्यवस्था दे सकता ह। इस विकास की व्याख्या किसी दैवी विधान के आधार पर नही वरन प्राकृतिक गतिविज्ञान के आधार पर की जानी चाहिए। लेकिन काम्त से प्रभावित होते हुए भी उसके द्वारा निर्दिष्ट तीन स्थितियो क स्थान म जिनका उल्लेख किया, वे ह—वन्य बर्बर और सभ्य। इन स्थितियो की कल्पना के पीछे उसके

१ के० कार्ल जे० फ्रीडरिख द्वारा सम्पादित 'द फिलॉसॉफी ऑव काट (द माडर्न लाइब्रेरी १९४९) में काट का निबन्ध 'आइडिया फार ए यूनिवर्सल हिस्ट्री (११६-१३१)

सामने आधुनिक और प्राचीन संस्कृतियों के सम्बन्ध में सुलभ समस्त सामग्री थी। उस समय तक एक ओर ग्राक रोमन, वैदिक और हिन्दू साहित्य में निबद्ध प्राचीन सामाजिक आचारों और विश्वासों की सामग्री संकलित हो चुकी थी तो दूसरी ओर अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और अमरीका की समकालीन आदिम जातियों की जीवन प्रणाली से सम्बन्धित तथ्य भी। यह परम्परागत धारणा खण्डित होती जा रही थी कि मनुष्य का इतिहास अगतिमूलक रहा है और यह भी कि वह किसी स्वर्ण युग से चल कर निरन्तर पतन की दिशा में यात्रा कर रहा है। इसके विपरीत यह धारणा विकसित होने लग गयी थी कि मनुष्य निम्नतर से उच्चतर स्थितियों की ओर प्रगति करता गया है। टायलर ने यह कहा कि यदि आधुनिक यूरोपीय समाजों को दो विपरीत सीमाओं पर रखकर अन्य सभी मानव जातियों को इनके मध्य में अवस्थित कर देखा जाय तो संस्कृति के सामान्य मानदण्ड का निर्धारण सम्भव है। इसके आधार पर यह अनुमान कठिन नहीं होगा कि सभ्य से सभ्य जातियाँ भी वन्य और बर्बर अवस्थाओं से गुजर कर ही अपनी वर्तमान अवस्था तक पहुँची हैं।[१] वन्य अवस्था फल संग्रह, आखेट और पत्थर के हथियारों के उपयोग की है, बर्बर अवस्था कृषि-कर्म, धातु के उपयोग तथा ग्राम और नगरों की रचना की। अक्षरों का आरम्भ वह घटना है जो वन्य और बर्बर समाजों से भिन्न सभ्य समाज की रचना करती है। संस्कृति की इस विकासमूलक धारणा को प्रमाणित करते हैं वे अवशेष जो हर समाज में अपनी पूर्ववर्ती स्थितियों से चले आये हैं और उनके स्मारकों के रूप में आज भी विद्यमान हैं। हर संस्कृति में ऐसे विश्वास, रीतियाँ और प्रथाएँ जीवित हैं जो निरर्थक और अबौद्धिक प्रतीत होती हैं और जिनकी उपस्थिति का एक ही तर्क है—परम्परा या अभ्यस्ति। टायलर ने आदिम संस्कृति के एक लम्बे अध्याय (संस्कृति में अवशेष) में ऐसे ही अवशेषों पर विचार किया है।

सांस्कृतिक विकासवाद का सिद्धान्त विवाह, परिवार, कला आदि पृथक्-पृथक् संस्थाओं के सन्दर्भ में अन्य कई व्यक्तियों द्वारा प्रस्तावित हो चुका था। स्विस विधिवेत्ता बाखोफेन ने मटररश्ट (मातसत्ता १८६१) में यह कहा था कि मातसत्ता पितसत्ता की पूर्ववर्ती है। संस्कृति शब्द का आधुनिक अभिप्राय देन

---

१ कुछ सीमाओं के भीतर मैं जिस धारणा को पुष्ट करने का साहस कर रहा हूँ वह मात्र यही है कि वन्य अवस्था कुछ हद तक मनुष्य जाति की प्रारम्भिक अवस्था का प्रतिनिधित्व करती है जिससे उच्चतर संस्कृति की उस प्रक्रिया से होकर विकास हुआ है जो (प्रक्रिया) आज भी प्राचीन काल की तरह ही नियमित रूप में सक्रिय है।" (पृ० ३२)

वाल जमन विद्वान क्लेम ने विभिन्न सामाजिक रीतिया और प्रथाओ के विश्लेषण द्वारा "मानवजाति के क्रमिक विकास की खोज और निर्धारण" करना चाहा था।[1] लेकिन इस प्रकार के विद्वानों के पूरे समुदाय से टायलर की स्थिति भिन्न हो जाती ह क्योकि उसने ही इस सिद्धान्त को एक व्यापक और व्यवस्थित भूमिका प्रदान की। वह अपने द्वारा निरूपित सिद्धान्त की सीमाओ के प्रति असावधान भी नही था। उसने विकास के नियमों को अवलोकित और अधीत तथ्यों के आधार पर किये गये सामान्यीकरण के रूप में ही स्वीकार किया और कभी विकास की निरन्तरता की किसी नियतिवादी धारणा का आग्रह नही किया। उसने बहुत स्पष्ट रूप में यह कहा है कि ये स्थितिया या नियम "निर्देश मात्र ह, पूरा व्याख्या नही।" (मानवविज्ञान १९) यद्यपि सम्मिलित रूप में मानव सस्कृति की विकासमूलक धारणा सही हैं, किन्तु कुछ ऐसे उदाहरण मिल जाते ह जिनमें वह (सस्कृति) अवरुद्ध भी हुई ह और पतित भी। इसके अतिरिक्त वह केवल अपनी आन्तरिक सम्भावनाओ के कारण ही आगे बढने म समथ नही हुई ह, वरन् अन्य सस्कृतिया के कारण भी बल्कि सच तो यह हैं कि वह प्राय स्वय विकसित न होकर बाह्य प्रभावो का ही फल रही हैं।

सस्कृति की विकासवादी व्याख्या के प्रसग में मागन का उल्लेख कई कारणो से आवश्यक है। उसके "आदिम समाज" (१८७७) ने एजेल्स के माध्यम से पूरी मार्क्सवादी विचारधारा को प्रभावित किया है और वह आज भी, कुछ साधारण सशोधनों के साथ, साम्यवादी इतिहास चिंतन का एक प्रभावक व्यक्तित्व बना हुआ है। टायलर की तरह उसने भी सास्कृतिक इतिहास को तीन स्थितियो में विभाजित किया और यह कहा—"एसा प्रतीत होता है कि ये तीन पथक् अवस्थाएँ प्रगति के आवश्यक क्रम के रूप में सम्बन्धित ह।' (पृ० ३) इनके आधार पर पूरी दुनिया के सामाजिक इतिहास पर विचार किया जा सकता ह क्योकि स्रोत, अनुभव और प्रगति की दृष्टि से पूरी मानव जाति का इतिहास एक-जसा रहा ह। यहाँ तक मागन की स्थिति अन्य सास्कृतिक विकासवादियो से बहुत भिन्न नही ह, किन्तु उसका एक विचारसूत्र उसे इन सबा से अलग कर देता ह। वह सास्कृतिक, और जविक विकास में अनुपातिक सगति मानता हैं। उसकी दृष्टि में सस्कृति की विभिन्न स्थितियो की समानान्तर मस्तिष्कीय—मुख्यत अग्रमस्तिष्कीय—विकास में खोजी जा सकती ह। यह स्थापना स्वय जविकी की दृष्टि से भी विवादास्पद ह। जूलियन हक्सले ने अपने "इवाल्यूशन इन ऐक्शन' (१९५३) में मानव विकास को जिन तीन स्थितियों—प्राक-मानव,

---

१ क्रोबर और क्लक्होन कल्चर १९५२ २४

जाति-भाव और भाषा—की चर्चा की है उनका प्रजातिक से आकार के वर्ण मानसिक (और गुणात्मक) परिवर्तनों से भी सम्बन्ध रहा है। अंतिम अध्ययन में जिन तीन स्थितियों की चर्चा की है वे स्वतन्त्र द्वारा निर्दिष्ट तीसरी अर्थात् भाषा स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं जिसमें किसी प्रकार का जैविक (वंशानुक्रम) परिवर्तन नहीं हुआ है।

यह अस्वीकार करना कठिन है कि सांस्कृतिक विकासवादियों ने संस्कृति का उसके जीवित सन्दर्भ में देखने की अपेक्षा प्राप्त तथ्यों के आधार पर कुछ बने बनाये सूत्रों का समर्थन किया और उनसे सामान्यीकरण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। उचित तो यही था कि वे विभिन्न संस्कृतियों के स्थानान्तर व विकास से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर ही अपनी प्रमुख स्थापनाओं की घोषणा करते। सांस्कृतिक विकासवाद की इन मान्यताओं के कारण ही फ्रांज बोआज ने यह अनुभव किया कि यह सिद्धान्त सांस्कृतिक वास्तविकता की व्याख्या का अधूरा साधन है। वस्तुतः मानव समाज इतना विस्तृत है कि इसकी कोई भी सन्निश्चित धारणा परिसीमित और अपूर्ण—जैसी हो जाती है। जब तक सभी संस्कृतियों का, अलग-अलग अध्ययन नहीं कर लिया जाता तब तक यह सम्भव नहीं कि मानव-संस्कृति मात्र के विकास की चर्चा की जाय। व्यावहारिक और वैज्ञानिक यही है कि सबसे पहले संस्कृति विशेष के ऐतिहासिक विकास का निरूपण किया जाय। बोआज द्वारा प्रस्तावित सस्कृति विशेष के ऐतिहासिक विकास के तथ्य मूलक अन्वेषण और निरूपण का यह सिद्धान्त, जो इतिहासवाद कहलाता है विभिन्न सांस्कृतिक विषयों के भौगोलिक वितरण और उनके आंतरिक रूपों के अध्ययन पर बल देता है। जब तक ऐसा नहीं किया जाता तब यह सम्भव नहीं कि किसी भी सस्कृति पर पड़ने वाले प्रभावों और उसकी अन्तर्वस्तु की क्रिया प्रतिक्रिया की सही जानकारी प्रस्तुत की जा सके। हर सस्कृति एक ओर परम्परा है जो विशेष प्रकार की ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम है, तो दूसरी ओर उस परम्परा का अपने वर्तमान द्वारा उत्पन्न समस्याओं की भूमिका में किया गया विशिष्ट समायोजन। हम अधिकतम स्थितियों में उसकी चल रही प्रक्रिया—उसके गतिविज्ञान—को ही उसके इतिहास को समझने की कुंजी मानने के लिए विवश हैं, क्योंकि आज की वर्तमान भूमिका में इससे अधिक कुछ भी नहीं किया जा सकता। अधिकांश आदिम जातियों के विषय में उनके वर्तमान द्वारा प्रस्तुत सामग्री के अतिरिक्त और कुछ भी सुलभ नहीं।

सस्कृति के अध्ययन में बोआज का सबसे बड़ा योग क्षेत्रीय कार्य पर बल और पूर्व-कल्पित सूत्रों के आधार पर किये गये सामान्यीकरण की अपेक्षा हर सस्कृति के वैशिष्ट्य का स्वीकार है। सस्कृतियों के व्यावहारिक अध्ययन

के प्रभाव में मानवविज्ञान तत्त्वदशन है, विज्ञान नही। बोग्राज ने न केवल सास्कृतिक विकासवादियो की कायपद्धति को अस्वीकार किया, वरन उनकी कई मान्यताओं से भी अपनी असहमति प्रकट की। वह न तो यह मानने को तयार था कि सास्कृतिक विकास अन्ततोगत्वा प्रगतिमूलक ह और न यही कि सस्कृतियाँ सरलता से जटिलता की दिशा म यात्रा करती रहती ह। यह सच ह कि विकास सर्व प्रगति नही ह (यह टायलर भी मानता ह) किन्तु यह सच नही ह कि सस्कृतियों में उत्तरोत्तर जटिलताका विकास नही होता या कि सस्कृतिया 'अन्तता-गत्वा' आगे नही बढी हं। लेकिन सास्कृतिक विकासवादियों की यह धारणा सही नही थी कि समान स्थिति में अवस्थित सस्कृतिया समान होती ह। जिस प्रकार आधुनिक कहा जाने वाला सस्कृतिया में साम्य और भेद, दानो है, उसी प्रकार दूसरी सस्कृतियो में भी समानता समरूपता नही है।

मलिनाव्स्की का कायवाद सस्कृति के सकालिक रचना तत्र के विश्लेषण को प्राथमिकता देता ह। यह इतिहासवाद का विराधी होते हुए भी एक अथ में उसका ही विस्तार ह, क्योकि उसने भो जावित सास्कृतिक वास्तविकता के अध्ययन का ही एतिहासिक विकास के निधारण का आधार बनाया था। लेकिन मलिनाव्स्की ने न तो वतमान सास्कृतिक सामग्री के आधार पर ऐतिहासिक पुनर्निर्माण के प्रयत्न को ही सायक माना और न अन्तरसास्कृतिक तुलना को ही। ये प्रयत्न कभी अनुमान से आग बढ कर विज्ञान की कोटि में नही पहुँच पाते। उचित तो यही ह कि विश्वासो और आचारो के इतिहास की खोज की अपेक्षा सस्कृति विशेष क जीवित सदभ में उनको सायकता अर्थात् कार्यात्मक मूल्य का अन्वेषण किया जाय। हर सस्कृति अपने आप में एक एक अन्वित, सजीव और सक्रिय इकाइ ह। उसकी कोई भी वस्तु असबद्ध और निरथक नही ह। उसकी हर वस्तु सामा-जिक गठन के सरक्षण और सचालन का साधन है। उसके "काय' का अथ ह सामाजिक व्यवस्था की निरन्तरता में उसकी यही उपयोगिता या योग। विश्वासो और व्यवहारों का इसी 'काय"—अपने मूल जीवन-सदभ मे सायकता से विच्छिन्न कर दखने पर फ्रेजर और टायलर की तरह किताबी निष्कप ही निकाले जा सकत ह, वसे निष्कप जो अक्सर वास्तविकता से अपनी सगति प्रमाणित नही कर पाते।

हर सास्कृतिक वस्तु को उसके सदभ में देखने पर बल एक ऐसी प्रस्तावना ह जो पर्याप्त अन्तर्दृष्टिपूर्ण ह और जिसने मानव सस्थाओ की अवगति म क्रान्तिकारी परिवतन उपस्थित किया ह। लेकिन मलिनोव्स्की की कई मान्यताएँ पुनर्विचार का अपेक्षा रखती ह। जसे, वह यह कहता ह कि उत्पत्ति और काय में कोई भद नही है, इसलिए उत्पत्ति की ऐतिहासिक व्याख्या अस्वीकाय ह।

इस बात पर विचार करना अनावश्यक है कि अमुक शिल्पतथ्य (आर्टिफैक्ट) की उत्पत्ति कब हुई, क्योंकि इसका निर्णय सम्भव नहीं है। इसके विपरीत, यदि इस बात पर विचार किया जाये कि उसकी उत्पत्ति क्यों हुई तो इसका समाधान किया जा सकता है। अभिप्राय यह कि यदि विश्वासों और शिल्पतथ्यों पर विचार करने की प्रचलित ऐतिहासिक विधि के स्थान में उसके दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया जाये तो बहुत-से प्रश्नों की पर्यवस्थिति बदली जा सकती है और अधिक विश्वसनीय समाधानों तक पहुंचा जा सकता है। वे समाधान उनके वर्तमान उपयोग में सन्निहित हैं।

किसी भी शिल्पतथ्य की उत्पत्ति का मूल जैविक-वातावरणिक है। इस तरह उत्पत्तियों की खोज वस्तुतः एक ओर मनुष्य की जैविक क्षमता तो दूसरी ओर वातावरण से उसके सम्बन्ध की भूमिका में सांस्कृतिक घटनावली का विश्लेषण बन जाती है। [1] फॉर्क 'तश्तरी से ठोस कौर को मुंह तक ले जाने का औजार है।' इससे आगे बढ़ कर इसकी उत्पत्ति की किसी ऐतिहासिक खोज का प्रयत्न व्यर्थ है।

मूल को अस्तित्व और उपादेयता से अभिन्न कर देखना मात्र और इस प्रकार संस्कृति की अधूरी व्याख्या को स्वीकार कर लेना है। भोजन का जैविक मनोवैज्ञानिक मूल बुभुक्षा है, किन्तु यह न तो भोजन प्रकारों का निर्धारण करता है और न पाक विधियों का। किसी भी शिल्पतथ्य या उपयोगी वस्तु के विशिष्ट स्वरूप की व्याख्या उसके इतिहास के सन्दर्भ में ही की जा सकती है। यह सच है कि संस्कृति जैविक परिवेशिक अपेक्षाओं से उत्पन्न होती है लेकिन यह उन अपेक्षाओं तक ही सीमित नहीं है। स्वयं मलिनोव्स्की को अपनी इस मान्यता की सीमा का किसी-न-किसी रूप में बोध रहा होगा, अन्यथा कोई कारण नहीं कि उसके-जैसा अतिवादी सीमा तक अपने पक्ष का समर्थन करने वाला व्यक्ति अपने 'सांस्कृतिक परिवर्तन का गतिविज्ञान' में इस प्रकार का विचार प्रकट करता : मैं समझता हूँ कि तथाकथित कार्यवाद इतिहासवादी दृष्टिकोण का न तो विरोधी है और न (विरोधी) हो सकता है वरन् (यह) उसका आवश्यक पूरक है। (पृ० ३४)

स्वाभाविक है कि कार्यवादी होने के कारण मलिनोव्स्की अवशेष या उत्तर जीविता की धारणा को अस्वीकार कर देता है। संस्कृति में ऐसा कुछ भी नहीं जो निरर्थक या विजातीय हो। जो यह मानते हैं कि इसमें पूर्वयुग से चले आते हुए वैसे विश्वास और रीतियाँ हैं जो कभी सार्थक या साभिप्राय थे और अब

---

१ ए साइंटिफिक थ्यारी ऑव कल्चर ऐंड अदर एसेज २०२—३

प्रसगत हो गये ह, वे यह भूल जाते ह कि यह (सस्कृति) अपने स्वभाव से ही अनुकूलनशील और सहत इकाई ह । यदि पूवयुग की कोई प्रथा या रीति इसमें विद्यमान ह तो इसका अथ यह ह कि उसने अपने को परिवर्तित स्थिति के अनुरूप बना लिया है और इस प्रकार नया कार्यात्मक मूल्य अर्जित कर लिया ह । यदि वह अनुपयुक्त हो जाती तो उसका अस्तित्व समाप्त हो गया होता । ऊपर से यह युक्ति एकदम सहा प्रतीत होती ह, पर सच तो यह ह कि उत्तर जीवित रहने वाली हर वस्तु नया कार्यात्मक मूल्य अर्जित नही कर पाती और न पूरी सास्कृतिक पयवस्थिति में अपनी बौद्धिक सगति का विकास ही कर पाती ह । यह सवाल उचित ही उठाया गया है कि मलिनोव्स्की को वास्तविक और मिथ्या कार्यों में भेद करना चाहिए था । 'सास्कृतिक परिवतन का गतिविनान ' म सायोगिक रूप में ही सही, वह "ऐतिहासिक अवशेषो की प्रासगिकता" की चर्चा करता भी ह (पृ० ३४) । फिर भी इसमें कोई सदेह नही कि इस प्रकार की स्वीकृतियाँ उसके पूरे साहित्य में, विरल हैं ।

कायवाद के साथ जुडा हुआ दूसरा नाम रैडक्लिफ ब्राउन का है जिसने अन्दमान द्वीप समूह की आदिम जातिया के बीच काम किया और वह काम प्राय उतना ही प्रसिद्ध हुआ जितना ट्राब्रिण्ड द्वीप समूह में किया गया मैलिनोव्स्की का । इस अध्ययन विधि की प्रमुख उपलब्धि समाज और सस्कृति तथा सामाजिक गठन और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धा का विश्लेषण ह । लेकिन इसकी एक सीमा ह—परिवतन के गतिविनान का अभाव । फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि इसने अपनी प्रयोगाश्रित और सुनिश्चित पद्धति के कारण सस्कृति के अध्यताओं को गम्भीर रूप में प्रभावित किया ।

सरूपवाद कायवाद से उपजा हुआ सिद्धान्त है जो इस प्रश्न का समाधान करता ह कि सस्कृति को एक सहत इकाई बनाये रखने वाली—इसे परिचालित करने वाली—शक्तिया कौन सी ह । सस्कृति के सभी अवयव परस्पर-सम्बद्ध ह, लेकिन उनकी यह सम्बद्धता यात्रिक न होकर मनोवैनानिक है । सस्कृति अभिप्रायों की एक जटिल सरचना है । यह अपने अन्तिम विश्लेपण में वस्तुनिष्ठ न होकर मानसिक ह । सबसे पहले सेपीर ने भाषा के प्रसग में सस्कृति के रचना-तत्र की इस विशेपता का उल्लेख किया । उसने यह कहा कि भाषिक व्यवहार (और इस प्रकार समस्त सास्कृतिक व्यवहार) उन अभिप्राया पर आधारित ह जिन्हें समाज के सभी सदस्य स्वीकार और सप्रेपित करते है । सस्कृति की सरूपवादी धारणा, जिसके साथ क्रोबर का नाम सम्बद्ध है मानवविनान और दशनशास्त्र को एक दूसरे के समीप ला देती है ।

इन मनवादा पर विचार करने के बाद यह परिलक्षित करना कठिन नहीं ह

कि इनका स्वरूप एक-जसा नही है। यह बात दूसरी ह कि ये सस्कृति के विश्लेषण के क्रम में जसे स्वाभाविक रूप में विकसित होते गय हैं। इनमें कुछ का दृष्टिकोण एतिहासिक ह तो कुछ का रूपात्मक। रूपात्मक दृष्टि ने सस्कृति के श्रान्तरिक विधान को स्पष्ट किया ह किन्तु यह एतिहासिक दृष्टि का स्थानापन्न नही ह। यह श्रनुभव ही सास्कृतिक विकासवाद के इधर पिछल तीन दशकों म पुनरजीवन के मूल में ह। यह सच ह कि सास्कृतिक विकासवाद की चर्चा आधुनिक यूरोप के फशन में शामिल नही ह लकिन लेसली ह्वाइट स्टयूवर्ट श्रौर गाडन चाइल्ड—जसे विद्वानो ने इसे फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया है। लसली ह्वाइट ने श्रपनी 'सस्कृति का विकास' (द इवाल्यूशन श्राव कल्चर १९५९) की भूमिका में बहुत स्पष्ट रूप में यह कहा है इस पुस्तक में निरूपित विकास का सिद्धात टायलर के मानसविज्ञान में १८८१ ई० में व्यक्त सिद्धात से रचमात्र भिन्न नही ह हालाँकि इस सिद्धात का विकास श्रभिव्यक्ति श्रौर उपपत्ति कुछ बातों में भिन्न हो सकती ह श्रौर है भी। (१४) वह सस्कृति के विकास को सूत्र रूप में इस प्रकार व्यक्त करता ह—साधन (श्राजीविका × सरचरण × प्रतिरक्षा)→समाज। (पृ० २०) श्रभिप्राय यह कि सस्कृति का स्वरूप प्रविधि पर श्रवलम्बित ह। प्रविधि जीवन-यापन की प्रणाली श्रौर स्तर में ही व्यक्त नही होती यह व्यवहार के विशिष्ट पटन को भी जन्म देती ह श्रौर य पैटन प्रचलित पटन के साथ स्थानान्तरण सशोधन श्रादि की प्रक्रिया क माध्यम से श्रपना समायोजन ढूढ लेते ह। प्रविधितत्र का परिवतन दशन धर्म कला श्रादि सभी क्षेत्रो को प्रभावित करता ह क्योकि य मूलभूत प्राविधिक प्रक्रिया के गर प्राविधिक रूप हैं। (पृ० २६)

जहाँ तक मैं समझ सका हूँ लेसली ह्वाइट का यह प्राविधिक नियतिवाद टायलर के विकासवाद के साथ मार्क्स के श्रार्थिक नियतिवाद के सयोजन का प्रयत्न ह। उसके विवचन का एक निष्कर्ष यह है कि यदि प्रविधि श्रथतत्र का श्राधार ह तो श्रथतत्र विकास की एक विशिष्ट स्थिति तक पहुँच जाने के बाद, नयी श्रौर उन्नत प्रविधि को जन्म देता ह।

यहाँ इस बात का स्पष्टीकरण श्रप्रासगिक नही होगा कि सास्कृतिक विकासवाद डार्विन श्रौर वलेस द्वारा निरूपित जविक विकासवाद से कहाँ तक श्रभिन्न ह। यह स्पष्टीकरण इसलिए श्रावश्यक ह कि सास्कृतिक विकासवाद को जविक विकासवाद का रूपान्तर या विनियोग समझ लिया जाता ह। लकिन दोनो की श्रध्ययन विधियों की तुलना करने पर इस बात में कोई सदेह नही रह जाता कि इनमें पर्याप्त भद ह। जविक विकास एकमार्गी न होकर बहुमार्गी हुआ करता ह श्रौर इसमें जीन के उत्परिवतन के जो नियम काम करते हैं

व यादृच्छिक हाते ह। वे जिस जीवजाति की सीमा में घटित होते है, उसके लिए सदव उपकारक ही नही होते। लेकिन मॉगन, लेसली ह्वाइट आदि ने जिस सास्कृतिक विकास का सिद्धान्त दिया है, वह सदैव एकमार्गी, उपकारक और नियमबद्ध प्रकृति का है। यह प्रश्न स्वाभाविक ह कि उनकी अध्ययन विधि को, वनानिक अथ में, विकासवादी कहना कहा तक उचित है। इसका समाधान स्वय जविक विकासवाद कर देता ह।

मानव जाति की स्थिति में यादृच्छिक और अध विकास का स्थान निर्दिष्ट और प्रयोजनगर्भित विकास ने ले लिया है। मनुष्य के साथ प्राणियो की दुनिया में यह प्रयोजन या सोद्देश्यता नाम की नयी चीज पैदा हुई ह, जिसने नये प्रकार के विकास का—नियन्त्रित विकास को—जन्म दिया है। इसने जविक विकास को बाधित कर दिया ह।[1] इसलिए मानव जाति के सन्दभ में उस सास्कृतिक विकास की चचा को अवज्ञानिक नही कहा जा सकता जो यादृच्छिक न हो कर नियमित और उपकारक है।

इसका अथ यह नही कि सास्कृतिक विकासवाद द्वारा कायवाद और सरूप वाद रद्द हो जाते हैं और न यही कि ये सिद्धान्त सास्कृतिक विकासवाद को रद्द कर देते हैं। सस्कृति के अध्ययन और विश्लेषण के क्रम में विकसित इन सभी मतवादो ने एक दूसरे के आग्रहो का खण्डन कर इसके स्वरूप को बहुत-कुछ स्पष्ट किया ह तथा इसके व्यवस्थित और बहुविध अध्ययन की सम्भावना उत्पन्न की है। लेकिन यह सत्य है कि सास्कृतिक विकासवाद—और अब गठनात्मक मानव विज्ञान—के सिवा अन्य सभी मतवाद अन्तरसास्कृतिक तुलना से कतराते रहे हैं। जब तक इन सिद्धान्तों के प्रवक्ता सस्कृतियों को आत्मबद्ध और स्वयसीमित इकाइयां मानते रहेंगे, तब तक वे सस्कृति के सही विज्ञान का विकास कर पाने में शायद ही सफल हो सकेंगे। लेकिन पिछले तीन दशको की प्रवृत्ति यह बतलाती ह कि इस दिशा में सोचने वालो की कमी नही रह गयी है।

●

१ मानवजाति की स्थिति में विकास की जविक प्रक्रियाएँ—शारीरिक आनुवशिकता और प्राकृतिक निर्वाचन—मानसिक-सामाजिक प्रक्रियाओं के अधीन हो गयी ह। यद्यपि निःसदिग्ध रूप में आदि-मानव की स्थिति में मानवजाति की आनुवशिक प्रकृति में बहुत परिवतन हुआ तथापि इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि यह आउरिगनेशियन गुहामानव के समय से किसी भी महत्वपूर्ण रूप में सशोधित हुई ह।'

—जूलियन हक्सले इवोल्यूशन इन ऐक्शन १३२

लोकसाहित्य और सस्कृति

अब तक लोकसाहित्य के अध्ययन के कई रूप विकसित हो चुके हैं।
सबसे पहले इसको मनुष्य की आदिम और सहज भावाभिव्यक्ति का महत्त्व
दिया गया और शिष्टसाहित्य के पुनरुज्जीवन के साधन एव सही सगन के प्रति-
मान के रूप में स्वीकार किया गया। आज भी इसकी अन्तर्वस्तु के अध्ययन का
एक रूप साहित्यिक है जिसके अन्तगत शिष्टसाहित्य से इसके बहुविध सम्बन्धो
पर विचार होता है। किन्तु लोकसाहित्य के बहुत-से पक्ष हैं और उनसे विरसगत
पर आधारित इसके अध्ययन के समान रूप में सगत बहुत-से दृष्टिकोण भी।
साहित्य के अतिरिक्त इतिहास और मनोविज्ञान की दृष्टि से भी इसका अध्ययन
किया जाता है। ये सभी अध्ययन विधियाँ इसके पाठ या वाचित रूप को ही
अधिक महत्त्व देती हैं किन्तु इसका वही अध्ययन समग्र हो सकता है जो इसके
पाठ या वाचित रूप को इसके वाचन के सन्दभ अर्थात जीवन प्रसगों और
प्रयोजनो की भूमिका में रख कर देखता हो। लोकसाहित्य का इस प्रकार का
अध्ययन सस्कृति की अपेक्षा में ही सम्भव है।

सस्कृति से लोकसाहित्य के कई प्रकार के सम्बन्ध हैं जिनमें मुख्य हैं—प्रति
फलन इच्छापूर्ति आलोचना शिक्षण और सचालन।

बोआज ने केवल लोकसाहित्य के आधार पर त्सिमशियन जाति का जीवन
पद्धति का पुनर्निर्माण किया। उसके प्रयत्न से यह धारणा और भी दृढ़ हुई कि
लोकसाहित्य सस्कृति को प्रतिफलित करता है अर्थात लोककहानियो और मिथों
में जो सामग्री मिलती है वह एक अर्थ में जाति विशेष का आत्मचरित है। उनमें
वही घटनाएँ और प्रसग मिलते हैं जो किसी समाज की दृष्टि में सार्थक और
महत्त्वपूर्ण होते हैं अतएव वे उसकी अभिरुचि विश्वास और मूल्यधारणा की
अवगति के प्रामाणिक साधन हैं। उनमें प्राप्य किसी जाति की जीवन-पद्धति
के सकेत उस (जाति) की आदतो के सही प्रतिबिम्ब होंगे। इसके अतिरिक्त
कहानी के कथानक का विकास सम्मिलित रूप में बहुत स्पष्टता से यह निर्दशित
करेंगे कि (उस जाति की दृष्टि में) क्या उचित है और क्या अनुचित।
(त्सिमशियन माइथोलाजी द्वितीय खण्ड ३९३)।

त्सिमशियन माइथोलाजी में विनियोजित कार्यपद्धति परवर्ती अनुसन्धान
कर्त्ताओं के लिए फलप्रद सिद्ध हुई है। इससे यह प्रमाणित हुआ है कि लोकसाहित्य

अतीत के अवशेषों का सकलन न होकर वतमान का जीवित अभिलेख है। पहले यही कहा जाता था कि लोकसाहित्य का अध्ययन अवशेषा या उत्तरजीविताओं का अध्ययन है। गाम ने तो यहाँ तक कहा कि इस साहित्य में जो कुछ ह वह अतात का ह। औद्योगिक सस्कृति ने इसका विकास अवरुद्ध कर दिया है उसने उस सामुदायिक जीवन प्रणाली को नष्ट कर दिया है जिसमें इसकी रचना और सवहन होता ह। यह सही है कि लाकसाहित्य में विगत जीवन के अवशेष भी मिलत ह—इसमें बहुत कुछ ऐसा भी मिलता है जो वतमान सन्दभ में असगत हो गया ह और कवल अम्यस्ति के कारण बचा हुआ ह। जसे आज सामन्ती सस्कृति विघटित हो चुकी है किन्तु हम आज भी राजा रानी और राजकुमार-राजकुमारियों की कहानियाँ कहते हैं। इस प्रकार की बातें केवल लोकसाहित्य में हा नही वरन् सस्कृति मात्र में मिलती ह। फ्रेजर का 'द गोल्डन बाउ इस प्रकार के अवशेषा का सवस विस्तत अध्ययन है। लेकिन अवशेष लोकसाहित्य की सामग्री का एक सीमित भाग ह और वह भा ऐसा भाग जो अपने को बदल कर जीवित सन्दभ के साथ जोडते रहने के प्रयास में निरन्तर सलग्न ह। यह बात दूसरी है कि इस प्रयास में वह सदव सफल नही हो पाता। किन्तु लोक-साहित्य की सामग्री प्राय सामुदायिक जीवन का समकालीन वास्तविकता को चित्रित करती ह और यदि उसका व्यवस्थित रीति से अध्ययन किया जाये तो वह जाति विशेष के व्यक्त और अव्यक्त भौतिक और मानसिक जीवन को अद्भुत् रूप में उजागर कर सकती ह।

उदाहरणाथ, भारतीय लोकसाहित्य के आवतक उल्लेखा के आधार पर यह निष्कष निकाला जा सकता है कि इस देश के व्यापक रूप में मान्य देवता राम, कृष्ण, शिव और शक्ति (दुर्गा, काली, भगवती आदि) ह किन्तु अनेक ऐसे दवता भी हैं जो मात्र स्थानीय हैं। यहाँ के आनुष्ठानिक जीवन की समृद्धि के प्रमाण जन्म, विवाह आदि सस्कारो के बहुसख्य गीतों में मिल जाते ह। ये गीत अनक छोटे-बडे लौकिक विधाना पर आधारित ह और उन्हे उसी प्रकार सम्पादित करते ह, जिस प्रकार शास्त्रीय विधानो को मन्त्र। तुलना करने पर यह मालूम होता ह कि लौकिक विधानो में से अधिकाश स्थानीय ह, इसलिए विभिन्न शास्त्रीय विधानों में अन्तरप्रादेशिक समानता का अनुपात जितना अधिक ह उतना लौकिक विधानों में नही। यदि कुछ अपवादों को छोडकर विचार किया जाये तो समस्त भारतीय लोककहानियां की एक मुख्य विशेषता उनकी सुखान्तता ह। यह सुखान्तता सत्य और न्याय की विजय के आस्थामूलक दृष्टिकोण को व्यक्त करती है और भारतीय लोकमानस की अवगति का एक मूल्यवान सूत्र ह। (यदि इन कहानियो के प्ररूपविज्ञान—टाइपोलाजी—का अध्ययन किया जाये

तो इसके समथन का एक सबल तक मिल सकता ह।)[1] इसी प्रकार, घापित
रूप में जातियो का स्थान-क्रम हमारी समाजव्यवस्था का स्वीकृत अग ह, किन्तु
जाति-सम्बधी कहावतो में व्यक्त अन्तरजातीय विद्वष, आशका और उपेक्षा की
भावनाए हमार इस विश्वास को झुठलाती हं। इन कहावतो से यही सूचना
मिलती ह कि आरम्भ स ही किसी-न किसी सीमा तक, जातियो के बीच तनाव
बना हुआ ह और यह भी कि परम्परागत समाज-व्यवस्था में निचली सीढी पर
अवस्थित जातियो ने कभी भी अपनी हीनता को पूण रूप में स्वीकार नही
किया ह।

उपयुक्त तथ्य सस्कृति के प्रतिफलन की दृष्टि से लोकसाहित्य के अध्ययन क
सम्भावनाओ का सकत भर प्रस्तुत करत हं।

लोकसाहित्य में सामाजिक जीवन के प्रतिफलन का एक अथ यह भी होता
ह कि इसमें बदलत रहने के अतिरिक्त नय सृजन की क्षमता भी होती ह। कभी
ह विश्वास किया जाता था कि पूँजीवादी युग में लोकसाहित्य का विकास
भव नही ह। यह सच ह कि औद्योगीकरण से सामुदायिक जीवन का पुराना
ढाचा टूटा ह लेकिन नय प्रकार के पेशेवर समुदायो का भी विकास हुआ है
जिसका अथ ह नय प्रकार क सामुदायिक लोकसाहित्यो का विकास। ऐसे ही नये
लोकसाहित्य के नायक ह अमरीका के जान हेनरी पाल बुनयन और कसी जोन्स,
जिनके गीत वहाँ के मजदूरो के बीच प्रचलित ह और जिनक सम्मान में बराबर
नय गीतो की रचना होती रहती ह। विद्वाना न इस प्रकार के लोकसाहित्य को
विकासशील लोकसाहित्य कहा ह।

यह विकासशील लोकसाहित्य औद्योगिक प्राविधिक युग की ही विशषता
नही ह। आज हिन्दी प्रदेश में जो लोकसाहित्य प्राप्त ह वह सब एक-जसा नही
रहा होगा। इस विश्वास के अनेक कारण ह। मध्ययुग के एतिहासिक लोक
नायको और वीरो की जो कहानियाँ आज प्रचलित ह व उनसे पूव नही रची
गयी होगी। भोज हम्मीर रत्नसेन और पद्मावती आदि की कहानियाँ इसी
प्रकार की ह। सन सत्तावन के राष्ट्रीय विद्रोह न कुवर सिह के गीतो को जन्म
दिया ह आदिवासी विद्राह के बाद बिरसा भगवान् की कथाएँ और गीत छोटा
नागपुर की विभिन्न भाषाओ के लोकसाहित्य के अग बन गय हं। वतमान

---

१ लोककहानियों के रूपवनानिक अध्ययन का आरम्भ आज स कुछ वष
पूव ही हुआ ह। इसक अन्तगत किसी जाति की लोककहानियों के मूल ढांचे या
घटनाक्रम का विश्लेषण किया जाता ह और उस घटनाक्रम की सगति उस जाति
का सस्कृति में ढूँढी जाती ह।

शताब्दी में गाजी और भगतसिंह-सम्बन्धी लोकगीतों की रचना हुई है और वे हमारी मौखिक परम्परा में सम्मिलित हो गये हैं।

लोकसाहित्य में संस्कृति के प्रतिफलन का अर्थ यह नही कि यह संस्कृति का कोई सपाट दपर्ण है। किसी भी प्राप्य दपर्ण से इसकी तुलना नही की जा सकती। इस दपर्ण में कई पहलू और कई सतहें हैं। इसमें उभरनेवाले प्रतिबिम्ब जीवन के व्यक्त अव्यक्त पक्षों के सदैव यथावत प्रत्यंकन नही है, वे उन पक्षों के कभी छद्म प्रत्यंकन होते है, तो कभी रूपान्तरित और कभी विपर्यस्त। जब तक केवल लोकसाहित्य के आन्तरिक नियमों के आधार पर ही सभी प्रकार के प्रतिबिम्बों को बिम्बों में बदलने की विधि का विकास नही हो जाता, तब तक जाति विशेष की संस्कृति की अवगति के निरपेक्ष साधन के रूप में उनका उपयोग उचित नही है। शायद इस प्रकार की किसी विधि का विकास सम्भव नही, क्योंकि सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की कोई भी विधा स्वयं संस्कृति का स्थानापन्न नही हो सकती। इसलिए उचित तो यही है कि लोकसाहित्य के आधार पर किसी संस्कृति का इतिवृत्त प्रस्तुत करते समय स्वयं उस संस्कृति के प्रत्यक्ष अध्ययन से प्राप्त तथ्यों से उसकी संगति की परीक्षा की जाये। ऐसा नही करने पर वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में बहुत से भ्रान्त निष्कर्षों को सत्य मान लेने की गलती की जा सकती है। जिन व्यक्तियों ने त्सिमशियन जाति की संस्कृति के साथ उसकी लोककथाओं की संगति की परीक्षा की है, उन्होंने बोआज द्वारा केवल लोकसाहित्य के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर उसकी जीवन प्रणाली के प्रस्तुतीकरण की त्रुटियों का संकेत किया है। इसका एक कारण यह है कि लोकसाहित्य वास्तविकता का ही नही, अपेक्षा का भी चित्रण करता है। वास्तविकता और अपेक्षा का द्वन्द्व संस्कृति के रचनातंत्र की एक बुनियादी विशेषता है और यह शायद कहावतों में सबसे अधिक प्रत्यक्षता से व्यक्त होता है।

कोई भी लोकसाहित्य ऐसा नही जिसमें परस्पर विरोधी कहावतों का अस्तित्व नही हो। उसकी एक कहावत में उद्यम की प्रशंसा मिलती है तो दूसरी में भाग्य की सर्वशक्तिमत्ता का उल्लेख, एक कहावत में अर्थसंचय का निर्देश मिलता है तो दूसरी में सर्वस्वदान का परामर्श। कहा जा सकता है कि कहावतें विचारों के कण हैं इसलिए उनमें परस्पर विरोध मिलता है। यह भी कहा जा सकता है कि उनमें पारस्परिक विरोध का कारण उनकी संक्षिप्तता है। जब सत्य के एक पक्ष का उल्लेख किया जाता है तो यह आवश्यक नही कि उसके दूसरे पक्ष का भी उल्लेख किया जाय। किन्तु कहावतों को केवल खण्ड-सत्य या विचार-कणिका की अभिव्यक्ति के रूप में देखना उचित नही है। उनका पारस्परिक विरोध मुख्यतः सामाजिक जीवन में आदर्श और यथार्थ में संगति के अभाव से उत्पन्न होता है,

और कोई भी समाज ऐसा नहीं जिसमें दोनों के बीच सत प्रति शत संगति विद्यमान हो।

वास्तविक और अपेक्षित के द्वन्द्व के समानान्तर एक अन्य द्वन्द्व वास्तविक और इच्छित का है। इस दूसरे द्वन्द्व की अभिव्यक्ति लोकसाहित्य को एक ओर अवदमित वासनाओं के विरेचन का माध्यम बनाती है तो दूसरी ओर सामूहिक इच्छापूर्ति का।

हर लोकसाहित्य में ऐसी सामग्री मिलती है जो प्रचलित सामाजिक आचारों और मान्यताओं के विपरीत पड़ता है। वेदों के प्राचीन व्याख्याकार भाष्यकारों के सामने भी यह समस्या थी कि वे इस प्रकार की सामग्री को किस रूप में ग्रहण करें। वेदों (और पुराणों) में वर्णित देवताओं के चरित्र कभी-कभी इतने अमर्यादित हो गये हैं कि उनके प्रति पूज्य भाव बनाये रखने के लिए उनका युक्तीकरण आवश्यक हो गया। यास्क ने वैदिक कथाओं को प्राकृतिक आध्यात्मिक रूपक मानकर उनके युक्तीकरण का ही कार्य किया। मध्ययुग के सायण और आधुनिक युग के महर्षि दयानन्द ने यास्क की नैरुक्त पद्धति को स्वीकार किया। (दयानन्द ने 'ऋग्वेदादिभाष्य की भूमिका' में प्रजापति द्वारा अपनी दुहिता से मैथुन को प्राकृतिक रूपक माना है।) मैक्स मूलर ने ईसा से बहुत शताब्दी पूर्व देवताओं पर मनुष्यों के लिए भी गर्हित माने जाने वाले कार्य करने का जो आरोप लगाया वह रूपकवादियों या नैरुक्तों के लिए शब्द के मूल अर्थ में प्रवेश करने की असमर्थता से भिन्न और कुछ नहीं रहा। उन्होंने यह कहा कि प्राचीनों ने पवित्र और गूढ़ ज्ञान को अधिकारी व्यक्ति तक सीमित बनाये रखने के लिए अपने मूल अभिप्राय को गोपित करने वाले शब्दों का प्रयोग किया। मैक्स मूलर ने यह अनुमान व्यक्त किया कि जब आर्यजाति विभिन्न शाखाओं में विभाजित होकर दूरवर्ती स्थानों में बस गयी तो उसकी मूल भाषा की देवकथाओं के शब्द विकृत हो गये और उनके अर्थ भी भ्रान्त होते गये। आज जिसे अश्लील या अनैतिक कहा जाता है वह शब्द की इस अर्थगत भ्रान्ति का ही परिणाम है।

लोकसाहित्य की इस सामग्री की एक और व्याख्या सम्भव है। कहा जा सकता है कि यह विगत जीवन की स्मृति या सांस्कृतिक अवशेष है। लेकिन मनोविश्लेषणवादी यह कहते हैं कि यह अवदमित वासनाओं की पूर्ति या उनका विरेचन है। यह सामग्री प्राचीन देवकथाओं में ही नहीं मिलती—यह प्रचलित लोककथाओं, गीतों और नाटकों में विद्यमान है। ऐसी कोई भी जाति नहीं जिसके लोकसाहित्य में स्वीकृत आचारों के विरोध में पड़ने वाली वस्तु नहीं मिल जाती हो। जिन जातियों में भाई और बहन में विवाह वर्जित है उनकी सृष्टि कथाओं के नायक-नायिका भाई-बहन हैं। रेड इण्डियन जातियों में सास के साथ

यौन सम्बन्ध वर्जित है, किन्तु उनका संस्कृति नायक भेड़िया अपनी सास के साथ सभोग करता ह। जूनी जाति में बहुविवाह की प्रथा नहो है, लेकिन उसकी लाककहानियों के नायक या नायिका के अनेक पत्नियाँ या अनेक पति होते ह। उमके लोकनाटका के कोयेमशी (दवा विदूपक), जो भाई-बहन के अवध सयोग से उत्पन्न सन्तान ह, वसा अश्लील आचरण करते ह, जसा दनदिन जीवन में सह्य नहीं माना जाना। इसी प्रकार, जूनो न तो आत्महत्या करते ह और न क्रोध या प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर अपने शत्रुओ की हत्या ही, लेकिन उनकी कहानियो म दोनो स्थितिया मिल जाती ह। य सामाजिक नियत्रण के कारण दमित और अवदमित अवध आकाक्षाओ के सामूहिक विरेचन क ही उदाहरण ह। यह विरेचन सामाजिक सन्तुलन और संस्कृति द्वारा विकसित प्रतिमाना तथा मूल्यो के अस्तित्व के लिए आवश्यक ह। अतएव हर समाज अपने द्वारा दमित अवदमित आकाक्षाओ के प्रकाशन के लिए उत्सव गीत, लोककथा आदि विधियो का विकास करता ह। उनमें भाग लेने वाले लोग उनके परिवेश और पात्रों से अवचेतन तादात्म्य स्थापित कर लेते ह तथा कुण्ठाओ और वर्जनाओ से मुक्त हो जाते ह।

इसका अर्थ यह नहो कि नरकल या रूपकवादी व्याख्या और अवशेष की धारणा एकदम गलत है। उदाहरण विशेष का इस या उम वग में रखने मे पूव उसकी वाहक संस्कृति के इतिहास और उस संस्कृति में उसके उपयोग की जानकारी आवश्यक ह, क्योंकि तभी यह निर्णय किया जा सकेगा कि उसमें रूपकात्मकता का समावेश हुआ ह, उसमें अवशेष का अस्तित्व ह या वह मात्र फंटेसी ह। फिर भी यह सच ह कि लोककहानिया, गीता आदि में मनोविश्लेषण की स्थापनाओ को प्रमाणित करने वाली पर्याप्त सामग्री मिल जाती ह। एक भोजपुरी लोकगीत की वियोगिनी नायिका जिस कदलीफल की चर्चा करती है, उसका एक यौन अभिप्राय भी ह। वह यह कहती ह — इस पार गगा ह और उस पार यमुना। दोना के बीच में रेत पर केले के घौर फले हुए ह। मैं नहर म हू और मरे हरि (पति) विदेश में। मरे लिए केला जहर हा गया ह।[१]

फ्रायड मानसिक अभिव्यक्ति मात्र को यौनवत्ति द्वारा प्रेरित और परिचालित मानता ह। विवाह और होलो के गीता में इस वत्ति का प्रकाशन इतने स्पष्ट

---

१ एहू पार गगा ओह पार यमुना, बीचे हो रतवा
केरवा फरल घवदवा वाच हो रतवा।
हम नइहरवा हरि मोरे विदसवा कि मारे लेखेना,
केरवा भइले जहरवा कि मारे लेखेना।

रूप में होता ह कि उनकी मूल प्रेरणा क विषय में किसी प्रकार की उलझन नही रह जाती। लेकिन अभी कहानियों और गीतों की सख्या कही अधिक है जिनमे मानव चेतना की इस केन्द्रीय वृत्ति की अभिव्यक्ति छद्म अर्थात् प्रतीकात्मक रूप में हुई है। फ्रायड ने स्वप्न के रचनातन्त्र का विश्लेषण करते हुए उसमें आने वाले प्रतीकों की एक लम्बी तालिका प्रस्तुत की ह और उसमें प्रच्छन्न (यौन) अभिप्राया का निर्देश भी किया है।[1] लोककथाए भी एक प्रकार का स्वप्न है—वे स्वप्न की तरह ही विचित्र और असम्भव घटनाओं से परिपूर्ण रहती है। उनमे भी उपयुक्त प्रकार के प्रतीक या बिम्ब मिलते ह।

किन्तु लोकसाहित्य के सन्दर्भ में चर्चित इस इच्छापूर्ति को केवल यौन भावनाओं तक ही सीमित कर देना सही नही है। मनुष्य में काम के अतिरिक्त दूसरी वृत्तियाँ और आकांक्षाएँ भी है जो सामाजिक बाध्यताओं और प्राकृतिक व्यवधानों के कारण अतृप्त और निष्फल रह जाती है। लोक-मानस उन्हें कहानियों और गीतों के माध्यम से तृप्त और पूर्ण करता है।

'वस्तुत हर लोकसाहित्य में साथ-साथ चलने वाले दो संसार मिलते है। एक संसार वास्तविक है तो दूसरा स्वाप्निक या काल्पनिक। स्वाप्निक संसार में हर वधू का पलग सोने का होता है हर माता की मचिया सोने की होती है हर वर सोने की खडाऊं पहनता है। इसी में उडने वाले घोड़े और कालीन है खुद लग जाने वाला दस्तरख्वान है वह जादुई टोपी है जिसे पहन कर व्यक्ति अदृश्य हो सकता है वह अमरफल है जिसे खा लेने पर आदमी पर मृत्यु का प्रभाव जाता रहता है। ये केवल यौनभावना की तृप्ति नही है वरन इनका सम्बन्ध मनुष्य के एक विस्तृत इच्छाचक्र से है। इस प्रकार के काल्पनिक चित्रों के माध्यम से वह सब चरितार्थ हो जाता है जो कठोर जीवन में कभी सम्भव नही हो पाता। ये चित्र पूरे समुदाय की आकांक्षाओं को व्यक्त करते हैं। अभिप्राय यह कि लोकसाहित्य जनता का स्वप्न है। इसमें व्यक्त कुछ स्वप्न तो इतने अर्थवत्तापूर्ण होते हैं कि उनका आकर्षण सदियों तक बना रह जाता है—मुख्यत वैसे स्वप्नों का जो मानवीय प्रवृत्तियों को गहराई से व्यक्त करते हैं अथवा जो

---

[1] फ्रायड के अनुसार जल जन्म का प्रतीक है यात्रा मृत्यु का। गमला गुलदस्ता जब थैला कमरा दराज घडी आदि योनि के प्रतीक हैं सेब और नारंगी स्तन के तथा छडी कुंजी छुरी पेंसिल सांप खम्भा आदि शिश्न के। नाचना सीढ़ियाँ चढना बन्दूक या तीर चलाना आदि लयात्मक क्रियाएँ सम्भोग के प्रतीक है। ये प्रतीक स्वप्न लोकसाहित्य धर्म सामाजिक आचार और भाषा में समान रूप में प्राप्य हैं।

मनुष्य द्वारा प्राकृतिक और पारिस्थितिक व्यवधानों बुनियादी मानवीय सीमाओं या सामाजिक यन्त्रणाओं के अतिक्रमण का चित्रित करते हैं।

अपनी इसी विशेषता के कारण लोकसाहित्य सामूहिक आलोचना आक्रोश और प्रतिशोध की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाता है। पीडना और अत्याचारा को सहन करते जाना—सदियों से सामान्य जन की नियति यही है। लेकिन वह अपनी इस नियति के प्रति जितना देह से अर्पित रहा है, उतना मन से नहीं। उसने अपने शापकों और पाडकों के प्रति अपने आक्रोश और प्रतिशोध को किसी लोककथा, लोकगीत, प्रवाद या कहावत का रूप दे दिया है। चीन के नृशंस सम्राट चिन शेह ह्वाग ने हजारो मील लम्बी दीवार—'चीन की दीवार'—बनवायी। लाखों व्यक्ति उस दीवार को बनाने के लिए बाध्य किये गये और जिस किसी ने विरोध या अनिच्छा प्रकट की, वह मार डाला गया। जनता ने सम्राट के प्रति अपने आक्रोश को गीता में व्यक्त किया। उनमें से एक गीत उस विधवा का है जिसके पति को विवाह के तुरन्त बाद दीवार बनाने के लिए भेज दिया गया और जो अपनी नवोढा के पास लौट नही सका —

खिलते हुए फूलों और गाते हुए पक्षियों के साथ
वसन्त हमें दूर-दूर बिखरे मित्रों से मिलने के लिए आमन्त्रित कर रहा है।
दूसरी स्त्रियाँ अपने अपने पति और पुत्रों के साथ (जा रही) हैं।
अभागिन मैं। मैं उस दीवार के पास जाऊँगी जहा मेरे पति की हड्डियाँ हैं।
लम्बी दीवार। लम्बी दीवार। यदि तुम हमें शत्रुओं से बचा सकती हो।
तो क्यों नही पहले हमारे प्रियजनों को बचाती हो?

देवेन्द्र सत्यार्थी द्वारा उदधृत गोंड सडक मजदूरनी का गीत जो अपने ऊँचे कवित्व के कारण लोकसाहित्य की एक अमर कृति है एक पूरे वर्ग के जीवन व्यापी कष्ट और विपन्नता का वर्णन करता है। इसकी सडक मजदूरनी अपने भाग्य की तुलना उन लोगों के भाग्य से करती है जो गर्मी की दुपहरी में भरपेट भोजन कर घर में विश्राम करते हैं और जाडों में गरम बिछौने पर सोते हैं। गीत के अन्त में वह अपने जीवन की व्यथता इन शब्दों में मूर्त कर देती है —

जल्दी मर के जाऊँ सरग ने करौं अरज जोड हाथ रे
ने ? बाबा आदमीपन ने अउर बना कछू जात रे।
—'जी चाहता है जल्द मर स्वर्ग जाऊँ और हाथ जोड कर अर्ज करूँ,
बाबा, मुझे आदमी का जन्म न देना और कोई जन्म देना।

सामूहिक आक्रोश और प्रतिशोध की अभिव्यक्ति के उदाहरण वे कहानियाँ हैं जिनमें कोई निबल पात्र अपने कौशल से किसी अत्यन्त शक्तिशाली और अत्याचारी पात्र को पराजित करता या मार डालता है। यह निबल पात्र वह

कि ग्रौसत हगरी वासी किसान के एतद्‌विपयक विश्वास भी इसी प्रकार के हैं। उसने ग्रामी से यह प्रश्न किया—'ग्राकाश किस पर टिका हुग्रा ह ?' ग्रामी ने कहा—'मेरे विचार से ग्राकाश पृथ्वी के छोर पर उसी तरह टिका हुग्रा है, जिस तरह गाडा हुग्रा तम्बू। यह कसकर बँधे हुए तम्बू की तरह है, क्योंकि यह पृथ्वी पर ग्रवलम्बित है। वहाँ पर ग्राकाश इतना नीचा है कि गौरया भी काले कपास के पौधे पर भुककर पानी पीती हैं।' उसने ग्रामी द्वारा सुनायी गयी एक कहानी में यही बातें पायी—'जब वह (नायक) दुनिया के छोर तक पहुँचा जहाँ कि गौरया काले कपास के पौधे पर भुककर पानी पीती ह क्योंकि वह सीधी नही हो पाती, तो उसे वहाँ एक पुराना-जसा मकान मिला। 'एरदेश्ज' को ग्रामी ने मनुष्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कुछ बतलाया, वह भी लोककथाग्रो पर ग्राधारित था।[1]

ग्रभिप्राय यह कि लोकसाहित्य लोक के विश्वासो, ग्रभिरुचियो ग्रौर मूल्यो का ग्रभियन्ता ग्रौर इस प्रकार उसके ग्राचरण का प्रभावक है। इसका ग्रादिम जातियों में शिक्षा के लिए सुनियोजित ग्रौर क्रमबद्ध रूप में, उपयोग किया जाता ह। इस प्रसग में ग्रो० एफ० राउम का पूर्वी ग्रफ्रीका की चागा जाति पर किया गया काय—'चागा चाइल्डहुड (१९४१)[2] सर्वाधिक उल्लेखनीय ह। इस पुस्तक में इस जाति द्वारा लोकसाहित्य के शक्षिक उपयोग का पूणतम विवरण मिलता ह। चागा लोकसाहित्य की विभिन्न प्रकार की रचनाग्रो का, बालको को सुनाने के प्रयोजन से उनके वय ग्रौर मानसिक विकास तथा उनसे ग्रपेक्षित दायित्व-बोध के ग्रनुरूप, निर्धारण किया जाता है। यह निर्धारण ग्राधुनिक विद्यालय के पाठ्यक्रम का स्मरण दिलाता है। भले ही दूसरी ग्रादिम जातियो में लोकसाहित्य का इतने सुनियोजित रूप में उपयोग नही किया जाता हो, इसमें सन्देह नही कि यह उनके बीच भी सामाजीकरण या शिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण साधन ह। इसके द्वारा लोगो को सामाजिक प्रतिमानो का सम्मान करते रहने के लिए प्रेरित किया जाता ह, तथा इसम प्राप्य दृष्टातो ग्रौर उक्तियों द्वारा उनके ग्राचरण का मूल्याकन। यह सही ह कि इस दृष्टि से गीत, कहावत ग्रादि की तुलना में मिथ का महत्त्व कही ग्रधिक ह। मिथ ग्रादिम जातियो का दशन भी ह ग्रौर नीतिशास्त्र भी। उसका सत्य परम विश्वास्य ग्रौर उसके ग्रादेश चिर-ग्रनुसरणीय

१ लिन्दा देघ द्वारा सम्पादित फोकटेल्स ग्रॉव हगरी लन्दन, १९६५ रिचड डारसन की भूमिका (पृ० १८)

२ चागा चाइल्डहुड ए डेस्क्रिप्शन ग्रॉव इण्डिजीनस एडुकेशन इन ऐन ईस्ट ऐफ्रिकन ट्राइब लन्दन।

माने जाते हैं। किन्तु जिन जातियों के लोकसाहित्य में कहावत का प्रचलन है उनके बीच इन (कहावत) ने अपनी साधारण लघुता और सहज स्मरणीयता के कारण एक विशेष स्थिति बना ली है। उनके बीच गाथों और कहानियों की तुलना में इसकी लोकप्रियता का मान सर्वोच्च है। यह बात कू जातो अफ्रीका आदि अपढ़ी जातियों के विषय में ही नहीं सागर के दूसरे भाग की जातियों के विषय में भी सत्य है। कई मानववैज्ञानिकों ने पश्चिमीकरण से पूर्व की माओरी जाति के दैनन्दिन जीवन में कहावत (हाकाआउकी) के महत्त्व का उल्लेख किया है। माओरी परम्पराओं के प्रति [illegible] निरमी [illegible]। में जीवित माओरी सन्दर्भ में इसकी भूमिका का अध्ययन किया था। इस जाति में सामाजिक महत्त्व के छोटे-से छोटे अवसरों पर भी कहावतें कही जाती थीं और इनके माध्यम से किसी कार्य का समर्थन या विरोध किया जाता था। ये सामा-जिक कार्यों और गुणों की प्रशंसा करती थीं तथा असामाजिक कार्यों और प्रवृत्तियों की भर्त्सना। जैसे यदि गाँव के कुछ लोग सामूहिक काम में उ-चित सहयोग नहीं देते थे, तो भोजन के समय उन्हें सुनाने के उद्देश्य से ये कह-वतें कही जाती थीं— सच में तुम्हारे मठ में रोंगोमाइ देवता काम करते हैं, या हाँडी-पेट होना इसी को भोजन देना भोजन बर्बाद करना है।

मलिनोव्स्की ने मिथ के सम्बन्ध में यह कहा है कि वे समाज-व्यवस्था का समर्थन, युक्तिकरण और संचालन करते हैं। किसी-न-किसी सीमा तक यही बात पूरे लोक-साहित्य के विषय में कही जा सकती है। यह सच है कि आदिम और गैर आदिम जातियों में इसकी भूमिका एक-जैसी नहीं है। किन्तु इसकी विधाओं और रचनाओं के आपेक्षिक महत्त्व एवं इसके प्रभाव की व्याप्ति के निर्णय के लिए यह आवश्यक है कि इसका संस्कृति-सापेक्ष अध्ययन किया जाय। जैसे संस्कृति विशेष की बनावट या उपसामुदायिक भूमिकाओं की उपेक्षा करने पर यह समझना कठिन होगा कि क्यों लोकसाहित्य का एक उल्लेख्य भाग, मलिनोव्स्की की धारणा के विपरीत, प्रचलित समाज-व्यवस्था का समर्थन और युक्तीकरण न कर उसकी आलोचना और विरोध करता है। इसी प्रकार अपेक्षित सन्दर्भ में परीक्षा किये बिना हम यह नहीं जान सकेंगे कि अफ्रीका की अनेक जातियों में कहावतों का स्थान वही है जो अपने यहाँ कानूनों और स्मृतियों का। उनके जन न्यायालयों में इनको कानून का महत्त्व भी प्राप्त है क्योंकि वहाँ इन्हीं के आधार पर अपराधों और विवादों का निर्णय किया जाता है। वहाँ वादी और प्रति-वादी, दोनों अपने अपने पक्ष में निर्णय पाने के लिए इनका कुशल-से-कुशल उप-योग करते हैं और इनके द्वारा एक दूसरे के तर्कों को काटने में जैसे प्रतिस्पर्धा करते पाये जाते हैं।

सांस्कृतिक अवशेष की धारणा

यह आवश्यक नहीं कि लोकसाहित्य में जो कुछ पाया जाय, वह जाति-विशेष के समकालीन जीवन-सन्दर्भ को ज्यों-का-त्यों प्रतिफलित करे ही। लोक-साहित्य के आधार पर जाति विशेष का आत्मचरित लिखने के अनेक प्रयत्न हुए हैं। इसके अध्येताओं ने इसकी अन्तर्वस्तु के उपयोग द्वारा अपने अपने अध्ययन-क्षेत्र के लोकजीवन की रूपरेखा प्रस्तुत की है। यह इस बात का उदाहरण है कि केवल लोकसाहित्य की सामग्री के आधार पर भी संस्कृति का इतिवृत्त तैयार किया जा सकता है। लेकिन इस प्रसंग में लोकसाहित्य की सामग्री की दो सीमाओं का उल्लेख आवश्यक है। इसका एक भाग सदैव काल्पनिक और आदर्शात्मक होता है। वह सामूहिक इच्छापूर्ति या सामाजिक अपेक्षाओं की अभिव्यक्ति होता है। इसके अतिरिक्त, इसका एक भाग समुदाय विशेष के अतीत का वह अंश है जो उसकी प्रचलित जीवन प्रणाली के मेल में नहीं है। हिन्दी में सबसे पहले पं० रामनरेश त्रिपाठी ने इस (दूसरी) स्थिति का निर्देश किया है। उन्होंने एक लोकगीत का उल्लेख किया है जिसमें वर अपने लिए वधू की याचना करते हुए गाँव-गाँव घूमता है। वर्तमान पुरुष प्रधान समाज में यह स्थिति अकल्पनीय और असंगत है। त्रिपाठी जी को इस गीत में इतिहास के उस युग की स्मृति सुरक्षित मिली है "जब वह युवावस्था प्राप्त होने पर स्वयं गाँव-गाँव घूमकर और यह पुकारता हुआ कि 'किसको दूल्हा चाहिए' अपनी जीवन-संगिनी की खोज को निकलता था।"[1] गीत में जिस युग की विवाह प्रथा का उल्लेख है, उस युग में समाज की संरचना मातृप्रधान रही होगी और पुरुष का महत्त्व गौण रहा होगा। इस निष्कर्ष पर एक आपत्ति की जा सकती है। हिन्दी प्रदेश में अब भी ऐसी जातियाँ हैं जिनमें कन्या की याचना वरपक्ष द्वारा होती है। यदि यह गीत उन्हीं जातियों का है तो इसके काल के सम्बन्ध में उपर्युक्त अनुमान सही नहीं है। लेकिन सच तो यह है कि यह समाज के जिस स्तर की स्त्रियों के बीच प्रचलित है, वह पूर्णतः पुरुष प्रधान है। यह कहना उचित नहीं होगा कि यह आज का अर्द्ध या अंशतः मातृप्रधान जातियों के सम्पर्क से ही पुरुषप्रधान जातियों में प्रचलित हुआ है। आन्तरिक ग्रहण के भी अपने नियम हैं। प्रायः एक जाति दूसरी जाति के उन गीतों का स्वीकार नहीं करती जो उसकी जीवन-पद्धति के मेल

१ जनपद १९५२ : १४। त्रिपाठी जी ने इस गीत पर 'ग्रामसाहित्य' (१९५१ : २६३-६४) में भी विचार किया है।

में नहीं है । यदि वह उन्हें स्वीकार करती है तो अपेक्षित अनुकूलन के साथ ही । इसलिए यह धारणा असंगत नहीं है कि इस गीत में प्राप्त विवरण व्यतीत जीवन सन्दर्भ का है—वह सांस्कृतिक अवशेष है ।

उत्तर भारत के लोकगीतों में व्यक्त एक आवर्तक अभिप्राय है जलाशय के लिए नरबलि । राजा तालाब खुदवाता है लेकिन उसमें पानी नहीं निकलता । पुरोहित से पूछने पर यह मालूम होता है कि तालाब उसके पुत्र, पुत्री या पुत्रवधू की बलि चाहता है । वह पुरोहित के आदेश का पालन करता है । मिथिला में प्रचलित जलेछ का गीत उस राजकन्या की करुण कहानी है जो पिता के अनुरोध करने पर तालाब में प्रवेश कर जाती है । तालाब भरता जाता है और वह डूब जाती है । श्याम परमार के भारतीय लोकसाहित्य के बालाबऊ[1] और कुलवन्ती बहू[2] नामक मालवी गीतों में इसी प्रकार की घटनाएँ मिलती हैं । बालाबऊ' में राजा ओड के लड़के हसकुंवर और बहू बालाबऊ के सरोवर में प्रवेश करते ही जल का सोता फूट पड़ता है और वे दोनों डूब जाते हैं । कुलवन्ती बहू में गाँव के पटेल की बहू यही करती है । इन गीतों की कहानियों के विषय में लेखक का यह निष्कर्ष है कि ये 'किसी बलि के सुघड़ रूप हैं । (पृ० १५९)

तालाब या नहर में अखूट जल के आश्वासन के रूप में नरबलि आधुनिक भारत में कुछ विरल उदाहरणों के सिवा समाप्त हो गयी है । इस प्रथा से सम्बन्धित कहानियाँ और गीत, जो गैर-आदिम भारतीय समाज में आज भी प्रचलित हैं उस युग के अभिलेख हैं जिसमें वर्षा या जल के लिए नरबलि का आयोजन किया जाता था । प्रत्येक देश के लोकसाहित्य में विगत युगों के आचारों और विश्वासों को इसी प्रकार संचित करते रहते हैं । ये आचार और विश्वास उसके समकालीन जीवन-सन्दर्भ में असंगत हो गये रहते हैं । यह कहना अयुक्त नहीं होगा कि लोकसाहित्य में अनेक सांस्कृतिक स्तरों का सहवर्तित्व दिखायी पड़ता है । संस्कृति का कोई भी युग—भले ही वह बहुत प्राचीन हो—ऐसा नहीं जो इसमें विद्यमान न हो । इसलिए इसमें प्राप्य अवशेषों का कालक्रम निर्धारित किया जा सकता है और उनके सातत्य के साथ उनके कालगत अनुकूलन या रूपान्तर का निर्देश भी किया जा सकता है । व्रत के सन्दर्भ में इस प्रकार के कालगत स्तरीकरण का रोचक उदाहरण डा० सत्येन्द्र द्वारा व्रज लोक-संस्कृति (१९४८-४९) में विवेचित शकटचौथ है जिसमें बलि की तीन क्रमिक स्थितियों—नर

---

१ प्रथम संस्करण १५७ ६५ ।
२ वही १५८—५९ ।

बलि पशुबलि और अन्नबलि—के संकेत मिल जाते हैं। शकटचौथ में "कहीं कहीं तिलकुट की आकृति मनुष्य—जैसी बनायी जाती है। मुख पर घी और गुड़ रख दिया जाता है। घर का कोई बालक या पुरुष, बालिका या स्त्री नहीं एक चाकू से उसका सिर धड़ से काट देता है काटते समय उससे यही कहा जाता है कि 'मैं एँ एँ करे। कटा हुआ सिर गुड और घी साथ काटनेवाले को मिलता है।' डा० सत्येन्द्र ने इसकी व्याख्या करते हुए यह कहा है कि इस व्रत में पहले मनुष्य की बलि होती होगी जो समाप्त कर दी गयी होगी और उसके स्थान में बकरी की बलि आरम्भ हुई होगी। बाद में जीवहिंसा मात्र को पाप मानने वाले युग में बलि का रूप एक बार फिर बदला होगा—वह देवता को खाद्य सामग्री का अर्पण बन गया होगा।

इस प्रसंग में शतपथ ब्राह्मण की यह उक्ति विचारणीय है कि यज्ञ पहले गौ या वृषभ में निवास करता था। इसके बाद वह अश्व में निवास करने लगा और अश्व के बाद अज में तथा अन्त में पृथ्वी या अन्न में। वैदिक संस्कृति के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें नरबलि नहीं होती थी, लेकिन ऋग्वेद की वरुण-सम्बन्धी उन ऋचाओं में जिनमें शुनःशेप की कहानी का उल्लेख है, यह सूचना मिलती है कि वेद-पूर्व संस्कृति में इसका अस्तित्व था। यह कहानी शतपथ में विस्तार से आयी है और इस निष्कर्ष को बल देती है। यदि धार्मिक पूर्वाग्रह से मुक्त होकर यजुर्वेद की सोम सम्बन्धी ऋचाओं की परीक्षा की जाये तो उनमें भी यही सत्य प्रच्छन्न मिलेगा। देवताओं ने यज्ञ में अपनी ही जाति के एक सदस्य सोमदेवता की बलि देनी चाही। केवल मित्र ने इसका विरोध किया, लेकिन बाद में वह भी राजी हो गया। मनुष्य के यज्ञ देवताओं के यज्ञ के अनुकरण हैं। इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि यज्ञ में सोमदेवता के वध या बलि का अनुकरण सोमलता के कूटने की क्रिया के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार की प्रतीकात्मकता पर्याप्त अर्थपूर्ण है। पूर्व युग में सोम के रस (रक्त ?) ने देवताओं को अमरत्व प्रदान किया। सोम पृथ्वी का जीवन और समृद्धि प्रदान करने के लिए मरा या मारा गया। सोमलता कूटने और उसका रस निकालने तथा सोम-सम्बन्धी अनेक ऋचाओं में प्राप्त मानवचेतनिक संकेतों में नरबलि और उसके प्रतिस्थापन का इतिहास ढूंढा जा सकता है। वैदिक सोमयाग प्रतीकात्मक नरबलि है जो जीवित आदिम जातियों में धार्मिक शक्ति और धान्य की समृद्धि के लिए मनुष्य के रक्तपान, आहार और खेतों में रक्तसिंचन-जैसी क्रियाओं में अपने गैर प्रतीकात्मक रूप में अर्थात् प्रत्यक्ष रूप में विद्यमान है। इससे दो निष्कर्ष सामने आते हैं—वैदिक आर्य आदिम संस्कृति से आगे बढ़ चुके थे, और सोमयाग नरयाग का ही अवशेष था।

अवशेष की यह धारणा संस्कृति की संरचना की व्याख्या का एक मूल्यवान साधन है। संस्कृति विकसित होती रहती है, लेकिन इसकी पूरी सामग्री इसके विकास से समायोजित नहीं हो पाती है। यह सोचा जा सकता है कि संस्कृति के जिस भाग की सार्थकता चुक जाती है वह भाग अनिवार्य रूप में नष्ट भी हो जा सकता है। यदि किन्हीं उदाहरणों में वह नष्ट नहीं हुआ है तो इसका अर्थ यही होता है कि उसने परिवर्तित सन्दर्भ में नया अभिप्राय अर्जित कर लिया है। जैसे, शकटचौथ में बलि का अभिप्राय बदल गया है और वह समकालीन सांस्कृतिक व्यवस्था के मेल में आ गया है। लेकिन क्या सांस्कृतिक वस्तु के लिए परिवर्तित सन्दर्भ में नया अर्थात संगत अर्थ अर्जित कर लेना सम्भव है?

यह सही है कि संस्कृति अपने स्वभाव से ही समाकलनात्मक होती है लेकिन इसकी हर वस्तु को समाकलित मान लेना वस्तुस्थिति का सरलीकरण है। संस्कृति समकालीन व्यवहार और चिन्तन विधि ही नहीं, परम्परा भी है। इसमें केवल अभ्यस्ति के कारण भी बहुत कुछ वैसा बना रहता है जो बहुत पुराना है और जो बौद्धिक दृष्टि से एकदम असंगत प्रतीत होता है। रूस में सुनियोजित रूप में अन्धविश्वासों का निषेध किया गया है लेकिन वहाँ आज भी 'पवित्र' नदी में स्नान करने से सभी रोगों से मुक्ति का अन्धविश्वास जीवित रह गया है।[1] इसी प्रकार कभी ब्रिटेन में पत्र लिख कर या बिल के पास जाकर चूहों से खलिहान या घर छोड़ देने का अनुरोध करने की प्रथा प्रचलित थी। आधुनिकीकरण के लम्बे इतिहास और बौद्धिकता के लम्बे दावों के बावजूद वहाँ इस नितान्त अबौद्धिक प्रथा का क्षीण रूप में ही सही, प्रचलित रह जाना आश्चर्य का विषय हो सकता है।[2]

---

१ मास्को से तीस मील की दूरी पर इस्त्रा नदी है जो रूस की जार्डन मानी जाती है। लोग प्रतिदिन भारी संख्या में वहाँ पहुँचते हैं। वे अपने बच्चों को पूर्णतः निर्वस्त्र कर देते और उन्हें व्याधिमुक्त करने के लिए इस्त्रा में डुबकी लगवाते हैं।

(२१ सितम्बर १९६६ को रायटर द्वारा प्रेषित समाचार जो हिन्दुस्तान टाइम्स दिल्ली में २३ सितम्बर १९६६ को प्रकाशित हुआ है। रायटर ने इस प्रसंग में २० सितम्बर १९६६ के रूसी पत्र त्रुद का हवाला दिया है।)

२ जब १९६२ ई० में ब्रिटेन की लार्ड सभा में गृहमंत्री ने चूहों को विष से मार डालने का विधेयक प्रस्तुत किया तो उस पर बहस के दौरान दो पियरों ने अपने अनुभव सुनाये। एक पियर ने यह कहा कि उसकी पत्नी ने चूहों के बिल के पास जाकर उनसे रसोई घर छोड़ने का अनुरोध किया और चूहे

इस प्रकार के अवशेष सभी देशो के लोकसाहित्य में प्राप्त होते हैं। वदिक काल का इन्द्र देवराज बने रहने की चिन्ता के बावजूद परवर्ती युगो में अपदस्थ हो गया और उसके आसन पर विष्णु और उसके अवतार विराजमान हो गये। लेकिन वृत्रासुर का वध कर समाज के कल्याण के लिए वर्षा करने वाले इन्द्र महाराज का अस्तित्व किसी किसी लोकगीत में आज भी दिखायी पड जाता है। कभी पूर्व भारत में यक्ष पूजा होती थी। बौद्धनिकायों और पिटकों में—जसे, दीघनिकाय के महासमय सुत्त और आटानाटिय सुत्त में—बहुत-से यक्षों का उल्लेख मिलता है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने वीर-वरह्म की पूजा को यक्ष की पूजा का परवर्ती रूप माना है। (जन पद अक ३ ६४ ७३) लेकिन मुगेर जिले के कुछ भागो में अब भी जखराज (यक्षराज) की पूजा होती है और उसकी स्तुति में गीत गाये जाते हैं। मुहावरा, कहावतों, मत्रा, पहेलिया और कहानिया म पूववर्ती सामाजिक जीवन की पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। कौडी का प्रचलन बहुत पहले समाप्त हो गया है, लेकिन आज भा 'कानी कौडी का न होना', 'कौडा-कौडी का मुहताज आदि मुहावरे हिन्दी में बने हुए हैं।

यह सोचना गलत होगा कि अवशेष गैर-आदिम लोकसाहित्य में ही प्राप्य हैं। वे हमार समकालीन आदिम साहित्य में भो मिलते हैं। प्राय आदिम जातियो के लोकसाहित्य की सामग्री उनके समकालीन जीवन की वास्तविकता को प्रतिफलित करता है। लेकिन बहुत मन्द गति स ही सही उनकी भी सस्कृति बदलती है और उसके बदलने का स्वाभाविक अनुलोम है उसमें सास्कृतिक अवशेषा का अस्तित्व। कभी प्यूब्लो घरा में खिडकियाँ और दरवाजे नही होते थे और उनमें छत से होकर प्रवेश किया जाता था। किन्तु अब उनके रूप बदल गये हैं। इसके बावजूद प्यूलो इण्डियन अब भी वैसी कहानियाँ कहते हैं जिनके पात्र सीढ़ियों से घर के अन्दर आते या उससे बाहर निकलते हैं।

परसस्कृतीकरण की प्रक्रिया आदिम या गैर आदिम, जिस जाति को भी प्रभावित करती है, उसके लोकसाहित्य की सामग्री में अवशेष बनने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। यही स्थिति तीव्र परिवतन के उन युगा में दिखायी पडती है जो जाति विशेष की अपनी ऐतिहासिक परिस्थितिया के परिणाम होते हैं। तीव्र और सामान्य सभी प्रकार के परिवतन के युगों म मनुष्य अपने लोकसाहित्य

रसोई घर छोड कर चले गये। दूसरे पियर ने यह सूचना दी कि उसकी सास ने रसोईघर के चहा को चले जाने का आदेश दिया और उन्होंने इस आदेश का पालन किया। (डेला एक्सप्रेस ३१ जनवरी १९६२ ७)

और संस्कृति का, बदली हुई वास्तविकता के साथ, अनुकूलन करता रहता है। वह उनके बहुत-से भाग को छोड़ देता है और बहुत-से भाग को इस रूप में बदल देता है कि वे उनके समकालीन स्वरूप से असंगत नहीं प्रतीत होते। इसके बावजूद, उनमें अवशेष बने रह जाते हैं जो अपने अपने युगों की कहानी कहते हैं—उन युगों की, जिनमें वे जीवन की व्यवस्था के प्रकृत अंग थे और उन्हें सार्थकता अर्जित नहीं करनी पड़ती थी।

●

पहेली एक रूपात्मक और सांस्कृतिक परिचय

लोक साहित्य की जिन विधाओं ने शिष्ट साहित्य को कई रूपों में प्रभावित किया है, उनमें पहेली भी एक है। यह बात दूसरी है कि इस पर उतना विस्तार से विचार नहीं हुआ है जितने विस्तार की सम्भावना, इसके अध्ययन के सन्दर्भ में अपेक्षित है। हिन्दी के लोकसाहित्य सम्बन्धी अधिकांश शोध प्रबन्धों में इसे प्रकीर्ण विषयों की सूची में डाल दिया गया है। यह सही है कि आधुनिक जीवन सन्दर्भ में इसका महत्व घट गया है और औद्योगीकरण के दौर में वह और भी घट सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह सदैव कम था या कि समकालीन आदिम समुदायों में भी उतना ही कम है, जितना कि गैर आदिम औद्योगिक समाजों में। इसकी ऐतिहासिक भूमिका इतना वैविध्यपूर्ण रही है कि केवल गैर आदिम कृषि और औद्योगिक संस्कृतियों—यहां तक कि समकालीन आदिम संस्कृतियों—में इसकी भूमिका के आधार पर इसके महत्व का समुचित मूल्यांकन कठिन है।

पहेली लोकमानस की एक पुरातन अभिव्यक्ति है—सम्भवतः उतनी पुरातन नहीं जितनी कि लोककथा और लोकगीत क्योंकि इसमें मानव बुद्धि का अपेक्षाकृत अधिक विकसित और जटिल उपयोग मिलता है। सम्भव है कि एक विधा के रूप में यह सुदूर अतीत में किसी प्रतिभाशाली व्यक्ति द्वारा उद्भावित हुई हो, किन्तु इससे कहीं अधिक सम्भव यह है कि यह किसी प्रदेश के लोकसाहित्य की शैलीगत प्रवृत्ति या कथन प्रकार हो जिसे व्यक्ति या व्यक्तियों के एक रचनात्मक समुदाय ने लोकजीवन की किन्हीं गहरी आवश्यकताओं से प्रेरित होकर एक नयी विधा का रूप प्रदान किया हो। वस्तुतः संस्कृति के इतिहास में जिसे नया कहा जाता है वह अभूतपूर्व और आकस्मिक न होकर रचनात्मक व्यक्तित्व या व्यक्तित्वों द्वारा पूर्ववर्ती सम्भावनाओं का विकास मात्र है। प्रतिभा या मौलिकता परम्परा के अकृतपूर्व उपयोग का ही दूसरा नाम है।

रचना की दृष्टि से पहेली प्रश्नवाचक हो या विधानात्मक, यह हर स्थिति में प्रश्न होती है। यह प्रश्न असामान्य और अनभ्यस्त सादृश्य योजना विपर्यय किसी महत्वपूर्ण पक्ष के अनुल्लेख या श्लिष्ट शब्दों की योजना पर आधारित रहता है। प्रायः हर भाषा में तीनों प्रकार की पहेलियाँ मिलती हैं। अब अंग्रेजी भाषा यह पूछता है— एक घर है जिसमें दरवाजा नहीं तो वह अंडे का घर से सादृश्य निरूपित करता है जो श्रोता की देखने और विचार की अभ्यस्ति

इनका प्राय विश्व की सभी भाषाओं में अस्तित्व है।[1]

इस प्रकार अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट रूपकात्मकता पहेली का अनिवार्य लक्षण नहीं है। रूसी लोकवार्ताविद् ए० एन० वसेलोवस्की ने इसीलिये एक भिन्न आधार पर इसके विश्लेषण का प्रयत्न किया है। उसके अनुसार यह समानान्तरता पर आधारित उक्ति है और समानान्तरता के नियमों का अनुवर्तन करती है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि इसकी सख्याओं (पदों) में से केवल एक ही सख्या का उल्लेख रहता है और उस पर समानान्तर वस्तु की विशेषताएँ स्थानान्तरित कर दी जाती हैं।

अमरीकी लोकवार्ताविद् एलेन डण्डेस ने लोकसाहित्य को रूपात्मक दृष्टि से दो भागों में बाँटा है—नियत-पद रूप और अनियत-पद रूप। पहेली, मंत्र, कहावत आदि विधाएँ नियत-पद हैं। इनकी शब्द स्थापना पूर्वागत और सुनिश्चित होती है। यह नहीं कि इनके क्षेत्रीय पाठ भेद नहीं होते, बल्कि यह कि क्षेत्र विशेष में इनके एक प्रकार के रूप ही चलते हैं। इसके विपरीत कहानी और गीत-जैसी विधाओं की प्रकृति अनियत-पद होती है और इन्हें कहने वाले

---

१ हिन्दी प्रदेश की (क) श्लिष्ट और (ख) कूट पहेलियों के उदाहरण निम्नलिखित हैं —

(क) दिल्ली खोई बेल मगर प नाल गये।
हथनापुर फूले फूल पटाले पान गये ॥ (हरियानी) प—४३८

अंगिया का यह वर्णन श्लिष्ट है। दिल्ली (दिल्ली शहर, २, दिल या वक्ष), मगर (१ मगेर २ पीठ) हथनापुर (१ हस्तिनापुर २ भुजमूल या हाथ) और पटाले (पटियाला शहर, २, पेट) जैसे शब्दों से इसमें श्लेष का आयोजन हुआ है। बेल (लता) नाल (तना) और पान (पत्ता) श्लिष्ट नहीं हैं।

(ख) दाल तिल कति पाया का ?
रावण सिर जाता का।
पाल पून के ल्यूलो
कृष्ण अवतार के दयूलो। (गढ़वाली)

अर्थ —तिल कितने पाये (प्रश्न) के दिये ?—जितने रावण के सिर थे उतने पाये के। छान बीन कर लूगा—तब तो कृष्ण अवतार दूँगा।

हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास सोलहवाँ भाग पृ० ६१७

कूट पहेली श्लिष्ट भी हो सकती है और अश्लिष्ट भी। लेकिन जो वस्तु सामान्य श्लिष्ट पहेली से अलग कर देता है वह है दुरारूढ़ सकेतों और यादृच्छिक रूप में प्रतीकों का उपयोग।

दो व्यक्तियो की शब्दावली एक जसी नही होती। पदो की यह नियतता पहेली के रूपात्मक गठनात्मक विश्लेषण की भी सुविधा प्रदान करती ह और इसक प्रसार क अध्ययन की भी।

सामान्यत सरचनात्मक धरातल पर पहेलो का चार भागो में विभाजित किया जा सकता ह—मुख-बध, विषय का विवरण उस विवरण से असगति रखने वाला वाला या उस विषय की पहचान को दुरूह बनाने वाले उल्लेख भाग और समापन वाक्य या वाक्याश। बहुत सम्भव है कि जिस पहेली में मुख-बध हो उसम समापन भाग नही हो या समापन भाग इस प्रकार आयोजित हो कि मुख-बध की कोई आवश्यकता नही रह जाये, क्योकि कई पहेलियो में दोनों एक ही काम—चुनौती का काय—सम्पन्न करती ह। फिर भी कुछ उदाहरणो में दोनो एकत्र मिल जाते ह। इसके दूसरे और तीसरे भाग क सयोजन के भी कई रूप मिलत ह—क्रमानुसार आयोजित और परस्पर मिश्रित। दूसरी स्थिति में व वस्तुत एक इकाई बन जाते ह। इस प्रकार यह आवश्यक नही कि यहाँ जिन सरचनात्मक भागो या तत्वो का उल्लेख ह, व हर पहेली में विद्यमान हो। यहाँ निर्दिष्ट तत्वो को इसके जातीय लक्षणो के रूप में ही स्वीकार किया जाना चाहिये। सच तो यह ह कि इसम न तो मुख-बध आवश्यक ह और न समापन भाग। इसके न्यूनतम तत्व ह विषय का विवरण और उसका उल्लिखित अनुलाम, जो सम्मिलित रूप में श्रोता को विभ्रान्त कर दने वाले उस चमत्कार की सृष्टि करते ह जिसके अभाव म कोइ उक्ति या उक्ति सकुल पहेली नही हो सकता।

साधारणत पहेली लोक कविता का अग होती ह इसलिय इसम तुक, अन्त तुक और यति जसी वे सभी युक्तियाँ मिलनी ह जिनका उपयोग लोक कविता करती ह। अतुकात और चौपातुकात पहेलियो की सख्या बहुत कम ह। यह स्वाभाविक है कि एक से अधिक पक्ति की होने पर ये सुस्पष्ट रूप में तुकान हो क्योकि ये कही जाती ह जिसका अथ यह ह कि ये स्मरण रखी जाता ह। लोकगीतो की तरह ही इनमें तुकान्तता की अनेक स्थितिया ह मुख्यत सर्वान्त्यता (समान्त्यता विषय समान्त्यता और सम समान्त्यता)। अत तुक किसी शब्द की आवृत्ति द्वारा भी आयोजित होती ह और अनुप्रास अर्थात किसी ध्वनि या ध्वनि समुच्चय की आवृत्ति द्वारा भी। समध्वनि प्रधान बदू में आनुप्रासिक पहेलियो की सख्या ससार की किसी भी भाषा की तुलना में अधिक है—कुछ उदाहरणो म तो इतनी अधिक कि उनम अथ की सगति की चिंता गौण हो जाती ह।

लोक कविता में पहेली की घनिष्ठता के कुछ और सूत्र ह। किसी किसी पहेली म छन्द विशेष के नियम के अनुरूप मात्रा विधान का मिल जाना आश्चय

जनक नहीं है फिर भी यह सच है कि इसमें मात्राओं की समानता से कहीं अधिक महत्व लय का होता है। हर भाषा की पहेलियों में प्राय उन्हीं छन्दों का उपयोग मिलता है जो उसमें लोकप्रिय हों।

शब्द-संयोजन की दृष्टि से पहेली के भेद हो जाते हैं—एक शब्दात्मक, एक-वाक्यात्मक और अनेक-वाक्यात्मक। एक शब्दात्मक पहेलियाँ केवल अमरीकी भाषाओं में मिलती हैं। न्याजा में "अदृश्य" (उत्तर-वायु), 'अगणय" (उत्तर घास) आदि पहेलियाँ हैं। भेद सभी भाषाओं में मिलती हैं। अनेक-वाक्यात्मक पहेलियों के अन्तर्गत दो वाक्यों की पहेलियों से लेकर पहेली गीत और पहेली कथा तक सम्मिलित हैं। पहेली गीत हर भाषा में मिलें या नहीं, इसका वितरण विश्वव्यापी है। वेदों के अनेक सूक्त प्राचीन पहेली के उदाहरण हैं और जर्मन भारतविदों ने प्राचीन जर्मन पहेलियों से उनकी तुलना करते हुए यह कहा है कि वे मूल आर्य विरासत का अंग हैं जिसका अर्थ यह होता है कि वे सुदूर अतीत से ही चली आ रही हैं। अब भी भारत के कई क्षेत्रों में इस प्रकार की पहेलियाँ मिलती हैं। डा० चिंतामणि उपाध्याय (लोकायन १९६१ १०३) ने विवाह के अवसर पर गायी जाने वाली मालवी की गीतात्मक पहेली या पारसी का उल्लेख किया है जो कई पहेलियों को टेक द्वारा जोड़कर बनायी जाती है। राजस्थान के हाड़ौती क्षेत्र के विषय में ठीक इसी प्रकार का उल्लेख डा० चन्द्रशेखर भट्ट का है "हाड़ौती क्षेत्र में विवाहादि के अवसर पर पहेलियाँ पूछने का रिवाज है। वर के कोहबर में प्रवेश करने के पूर्व पूछी जाने वाली कुछ पहेलियाँ इस प्रकार हैं —

> बुध मटके, मङ्गल चलअ, होवअ तावडतोड
> असी बगत में बीन्द जी आया क्यू घर छोड? (जी आया)
> फूट्या गेंदा गुलाब, काट्या न जाव,
> उतर दया चतर नअ ता पूरा लर। (तारे) इत्यादि
> (हाड़ौती लोकगीत १९६६ १५)

लेकिन कई भाषाओं में ऐसे पहेली गीत भी मिलते हैं जो आकार में लघु गीतों जैसे होते हैं और जिनमें केवल एक विषय का विवरण रहता है।

यद्यपि पहेली सामान्यत कविता की सीमा में आती है किन्तु इसका एक भेद पहेली कथा है जो स्पष्टत लोक गद्य है और पहेली गीत की तरह ही दो भिन्न विधाओं की सीमा पर पड़ती है। यही कारण है कि कई लोकवार्ताविद इसे कथा पहेली भी कहते हैं।

पहेली कथाएँ यूरोप, एशिया और अफ्रीका में समान रूप में लोकप्रिय हैं और सांस्कृतिक अन्तरावलम्बन के लम्बे इतिहास की परिणाम हैं। डा० शंकरलाल

पाण्ड ने हरियाणा की जिन कुतूहल कहानियों का उल्लेख किया है वे उत्तर भारत में अन्यत्र भी प्रचलित हैं। उनमें से एक कहानी का नायक साहूकार का लड़का है। वह सौ रुपयों में यह बातें खरीदता है—जग का पिता प्यार की माता, हाथ की बाहणा, अणहोता का भाई, बिगड़ी का यार, [illegible] सोवे सो खोय जागे सो पावे। कहानी में आगे सभी बातों की परीक्षा हो जाती है। इसी प्रकार एक अन्य कहानी में शाह राम के द्वारा बादशाह अकबर के पास भेजे गये परवाने का उल्लेख है। परवाना है— '[illegible]।'[1] इस प्रकार की कहानियों की विशेषता यह है कि वे समस्या भी प्रस्तुत करती हैं और उसका समाधान भी। लेकिन पहेली कथाओं का एक वर्ग ऐसा भी है जिसमें सामान्य पहेली की तरह समस्या प्रस्तुत कर दी जाती है और उसका समाधान स्वयं श्रोता को करना होता है। स्मिथ और डेल ने रोडेशिया की इला भाषा की एक इसी प्रकार की कहानी की चर्चा की है[2] —

एक पुरुष और उसकी पत्नी अपने मित्र के यहाँ गये। घर लौटते समय उनकी अपनी अपनी माँ भी उनके साथ हो गयी। रास्ते में शेर, चीता, साँप आदि सभी तरह के हिंस्र जीवों ने उनका पीछा किया। उनसे बचते हुए वे किसी प्रकार नदी के किनारे पहुँचे। वहाँ एक नाव थी, लेकिन उसमें सिर्फ तीन आदमी बैठ सकते थे। इधर दुश्मन उनका पीछा करते चले रहे थे। नदी मगरों से भरी थी, वे तैर कर पार भी नहीं हो सकते थे। सिर्फ तीन आदमी पार हो सकते थे। एक का मरना निश्चित था। प्रश्न है—उनमें से कौन मरेगा? आप कह सकते हैं कि पुरुष अपनी सास को छोड़ देगा। लेकिन उसकी पत्नी ऐसा नहीं होने देगी। पुरुष अपनी माँ को नहीं छोड़ सकता। गुरुजन अपने बच्चों को नहीं छोड़ सकते। तो यह बतलाइये कि वे किस प्रकार इस कठिनाई से उबर सके?

---

१ हरियाना प्रदेश का लोकसाहित्य १९६० ३६०, ३६१।

पहली कहानी 'ब्रज की लोक-कहानियाँ' (सं० डा० सत्येन्द्र १९४७) में 'कंजूस साहूकार' (१२४ १२६) की कहानी के रूप में आयी है। इसमें साहूकार का बेटा जिन बातों को खरीदता है वे हैं —

पिता लोभी, माँ ममता की।
होते की बहिन अनहोते को भइया।
पाइसा पास को, जोरू साथ की।
झुनझुनी सहरू।
सोवे सो खोव, जाग सो पाव।

२ द इला-स्पीकिंग पीपुल्स ऑव नारदन रोडेशिया पृ० ३३२।

पहेली का विवादित पक्ष है इसका उत्तर, जिस पर विचार किये बिना इसका कोई भी विश्लेषण पूर्ण नही माना जा सकता। अपने यहाँ साहित्यिक पहेलिया के प्रसग में इस विषय पर जो विचार हुआ है, वह लोक पहेलियो पर भी समान रूप में लागू है।

रुद्रट ने पहेली (प्रहेलिका) के दो भेद किये है—स्पष्ट प्रच्छन्नार्था और अव्याहृतार्था (स्पष्ट प्रच्छन्नार्था प्रहेलिका व्याहृतार्था च)। स्पष्ट प्रच्छन्नार्था पहेली वह है जिसमें प्रश्न-वाक्य के भीतर ही उत्तर छिपा हुआ रहता है। अव्याहृतार्था पहेली का उत्तर उसमें प्रयुक्त विशेषणों द्वारा सकेतित अर्थ के निश्चय के आधार पर दिया जाता है अर्थात वह किसी भी रूप में उक्त नही रहता और स्वय श्रोता द्वारा दिया जाता है। यह बात नमिसाधु द्वारा इस प्रकार स्पष्ट की गयी—"प्रहेलिका द्विविधा। स्पष्ट प्रच्छन्नार्था अव्याहृतार्था च। तत्र स्पष्ट एवार्थस्तत्वात प्रच्छन्नश्च प्रश्नवाक्ये एवान्तर्गतत्वेन भ्रमकारित्वादर्थो यस्या सा तथाविधा। तथाऽसाधारणविशेषणोपादानादेवाधिगतत्वेनाव्याहृत साक्षादनुक्तो अर्थो यस्या सा तथाविधा।"[1] विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि स्पष्ट-प्रच्छन्नार्था और अव्याहृतार्था क्रमश शाब्दी और आर्थी ही है, किन्तु यह वर्गीकरण स्वतन्त्र महत्व का अधिकारी है। यह पहेली के उत्तर-पक्ष से सम्बन्ध रखता है और शाब्दी तथा आर्थी जैसे भेदो से कही अधिक व्यापक है। उदाहरण के लिये, लोकसाहित्य की न केवल श्लिष्ट पहेलियाँ स्पष्टप्रच्छन्नार्था है, वरन् पहेली कथाए भी, जिनका उत्तर स्वय उनमें ही मिल जाता है। अधिकाश लोक पहेलियाँ और इसी पहेली कथाओ—जैसी कहानियाँ, रुद्रट के वर्गीकरण के अनुसार अव्याहृतार्था है।

मैं समझता हूँ कि इस वर्गीकरण में एक और नाम जोडना आवश्यक है।

---

१ रुद्रट (५/२६) ने दोनो का एक सम्मिलित उदाहरण दिया है—

कानि निकृत्तानि स्वय तेन कदलीवनवासिना। कथमपि न दृश्यते सावन्वक्ष हरति वसनानि।

पहली पक्ति का पहला अर्थ है—"कदली के वन में निवास करने वाले उस मनुष्य ने किस प्रकार कौन सी वस्तुएँ काट दी? इसका दूसरा अर्थ है—("रावण ने) स्वय ही खड्ग से (असिना) नौ सिर कदली की तरह काट दिये।'

दूसरी पक्ति का अर्थ है—'वह कौन है जो दिखायी नही पडता और आँखो के सामने से ही वस्त्र चुरा लेता है? इसमें अन्वक्ष का अर्थ "प्रत्यक्ष' है और यह शब्द चोरी से वस्त्र ले जाने वाले व्यक्तियो पर लागू नही होता। इस आधार पर इसका उत्तर है—वायु।

बहुत सी पहेलियों की न केवल प्रश्न, वरन् उत्तर की शब्दावली भी पूर्वनिश्चित होती है। ये अध्याहृतार्था से भिन्न हैं, क्योंकि अध्याहृतार्था का प्रश्न भाग उक्त होता है और उत्तर भाग अनुक्त जबकि इनके दोनों भाग उक्त होते हैं। इस प्रकार की पहेलियों को कथितार्था या प्रश्नोत्तरी कहा जाना चाहिये। ऋग्वेद यजुर्वेद, महाभारत निकाय ग्रंथों और जातकों में प्रश्नोत्तरी पहेलियों के उदाहरण मिलते हैं। लोकसाहित्य में इनका रूप गीतात्मक है, जैसे खड़ीबोली और हरियाणी की मल्होर या पल्हाये नामक पहेलियों में। ये संसार के दूसरे भागों में प्रचलित हैं। सोथो (अफ्रीका) पहेली गीत में प्रश्नकर्ता यह पूछता है—"मैंने एक ललोहे आदमी को देखा जो यह भी नहीं कह सकता था (यह भी कह सकने में असमर्थ था)—नमस्कार महोदय !" श्रोता उत्तर देता (या गाता) है—"सुनते ही मैं कह देता हूँ—बाबी का बेटा (टीला)। (कहो) मैं (मेरा उत्तर) कैसा रहा ?'

अफ्रीका की ही बंटू में 'प्सीतेकातेकीसाना" नाम की पहेलियाँ मिलती हैं जो खेली जाती हैं। स्वाभाविक है कि इस प्रकार की रचनाओं में स्वतंत्र रूप में कुछ भी कहने की गुंजाइश नहीं रहती —

(१) 'झील किनारे पर सूखा जाती है ?

—छोटे तीर से हाथी (भी) मारा जाता है।

(२) छोटी झोपड़ी गिर जाती है ?'

—कल, कर्ज।[१]

(पहली पहेली का अर्थ यह है कि छोटे प्रयत्नों से भी बड़े कार्य सिद्ध होते हैं। दूसरी पहेली में यह कहा गया है कि अव्यवस्थित जीवन का परिणाम कर्ज है।)

बंटू में इस जाति की पहेलियों के दो वर्ग हैं। पहले वर्ग की पहेलियों में पहली उक्ति (प्रश्न) लाक्षणिक होती है और दूसरी उक्ति (उत्तर) में उसका अर्थ, अभिधा के धरातल पर प्रकाशित होता है। इसके विपरीत, दूसरे वर्ग की पहेलियों में दोनों उक्तियाँ समान रूप में लाक्षणिक हुआ करती हैं, जैसे—"मैंने अपना क्वाक्वा फेंक दिया है, वह धरती के दूसरे छोर तक पहुँच गया है। मैंने बान्हलावी से आने वाले फावड़े स्वीकार कर लिये हैं।"[२]

इसका अर्थ यह है कि मैंने हलावी के लोगों को अपनी लड़की बेच दी है। वह क्वाक्वा (एक गोल फल) की तरह लुढ़क कर मुझसे सब दिनों के लिये दूर चली गयी है।

---

१ जूनोड द लाइफ आव ए साउथ अफ्रिकन ट्राइब १८१।

२ वही १८२।

पहेली पर एक अन्य दृष्टि से विचार किया जा सकता है—वह दृष्टि है उत्तर की सख्या। अधिकाश पहेलियों में किसी एक विषय का विवरण मिलता है। इस सूची में एक प्रश्नात्मक और अनेक प्रश्नात्मक, दोनो प्रकार की पहेलियाँ आ जाती है। उत्तर की सख्या एक ही होती है। लेकिन अनेक प्रश्नात्मक पहेलियों के समुदाय में वसी पहेलियाँ भी प्राप्य है जिनकी हर उक्ति का उत्तर पृथक है जसे—

फूलमित्य गुलाब चटान नह कांह,
मूदमुन राजा वदान नह कांह
वम्रथरुन वयामखाव शरान नह कांह।

—गुलाब के फूल खिले है, लेकिन उन्हें कोई काट नहीं सकता है। उ० तारे। जो अपने को राजा समझता था, वही मर गया लेकिन कोई रोता नही। उ० कुत्ता। चाँदी के तार का बना कपडा बिछाया गया है लेकिन उस पर कोई सो नही सकता। उ० बफ।[1]

एक लोकप्रिय विधा के रूप में पहेली की अनेक सामाजिक भूमिकाएँ है। इनमें से जिन चार का सामान्यत उल्लेख किया जाता रहा है वे है—प्रतिफलन, शिक्षण, बुद्धि-परीक्षा और मनोरजन।

पहेलियों के आधार पर किसी भी समुदाय के दैनदिन जीवन और विश्वासो का पुनर्निमाण किया जा सकता है। इस दृष्टि से इनका महत्व लोकसाहित्य की किसी भी विधा से भिन्न नही है। इनमें जिन विषयों का विवरण मिलता है, वे समुदाय की जीवित सस्कृति से गृहीत हुए हैं। भारतीय पहेलियों में मुख्य रूप में कृषि सस्कृति की सामग्री का समावेश हुआ है। यह बहुत स्वाभाविक है कि इनमें नागर या अभिजात जीवन को अत्यन्त सीमित अभिव्यक्ति मिली है। आदिम जातीय सदर्भ में इनमें वय—यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वय कृषि सस्कृति प्रतिफलित हुई है।

सस्कृति एक दिक्कालिक सातत्य है। इसके अनेकानेक अर्थों में एक अर्थ यह भी है कि यह निरन्तर बदलती हुई प्रक्रिया है। बाहरी सम्पर्क और पर सस्कृतीकरण के कारण हर सस्कृति में नवीन शिल्प तथ्या और धारणाओं का समावेश होता रहता है। इस प्रक्रिया में केवल गर आदिम ही नही, आदिम सस्कृतियाँ भी बदलती है। एक ओर मुण्डा अपनी नुतुम-कहानी या पहेली में यह पूछता है—

नुतुम कहानी
काठ केरो काठरी लोहा केर धार

[1] मोहन कृष्ण दर कश्मीर का लोकसाहित्य १९६३ ३०३।

आग आग बढ़ुमी मेर पीछे मोर
लाए पोता ताता ? (उत्तर—हल)
तो दूसरी और यह—

नुनुम कहानी
मियान होरा जता
हमता बाए दुम्मा
लाए पोता ताता ? (उत्तर घरी) [1]

मुण्डा पहेलियों में क्यों ऐसी ओर सैकड़ों आदि नय शिल्प-तथ्य, जो आधुनिक जीवन से गृहीत हुए हैं विषयों के रूप में प्रवेश पा गये हैं। यही बात दूसरी लोक भाषाओं के सम्बन्ध में भी सत्य है जिनमें साइकिल, रेल मोटर यहाँ तक कि स्पुतनिक पर भी पहेलियाँ बन गयी हैं। [2]

लोकसाहित्य को जनता का विश्वविद्यालय कहा गया है। लोकसाहित्य और संस्कृति के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार के क्रम में यह देखा गया है कि किस प्रकार आज भी कई आदिम जातियों में गीतों, कहानियों कहावतों आदि का शैक्षिक उपयोग होता है। ये सामाजिक मूल्यों के सम्प्रेषण के समर्थ साधन हैं। जब जिकारिला अपाचे कबीले का कोई सदस्य सामाजिक नियमों का उल्लंघन करता है तो लोग उस पर व्यंग्य करते हुए यह कहते हैं— क्या तुम्हें कहानियाँ सुनाने वाला कोई पितामह नहीं था ? कुछ जातियों में पहेलियों का सामाजिक महत्व के ज्ञान के सम्प्रेषण के माध्यम के रूप में सुनियोजित रूप में उपयोग होता है। अफ्रीका की उत्तरी सोथो लोबेदु पहेलियों में कबीले के इतिहास और समकालीन महत्व की भौगोलिक सामग्री का बड़ा कुशल समावेश मिलता है।

यदि शिक्षा का प्रयोजन बुद्धि का विकास है तो यह (प्रयोजन) पुस्तकीय ज्ञान रहित समुदायों में पहेली द्वारा भी सिद्ध होता है। यह अपने श्रोताओं का पर्यवेक्षण शक्ति को विस्तृत और प्रखर बनाती है। यह उनका ध्यान वस्तुओं के सूक्ष्मतम विवरणों की ओर ले जाती है और परस्पर भिन्न पदार्थों में समानता का साक्षात्कार कराती हुई अपने परिवेश को पहले से भिन्न और नये रूप में देखने की दृष्टि प्रदान करता है। इसका उपयोग करने वाला व्यक्ति जीवन के आरम्भिक

---

१ इन दो पहेलियों के लिये मैं क्रमश डा० ललिताप्रसाद विद्यार्थी (अध्यक्ष मानवविज्ञान विभाग, राची विश्वविद्यालय) तथा फादर पोनेत, एस० जे० (राँची) का कृतज्ञ हूँ। दूसरी पहेली का अर्थ यह है 'एक आदमी है जो कभी नहीं सोता। बताओ तो वह कौन है ?

२ स्पुतनिक पर पहेली के लिये दे० "हाड़ौती लोकगीत पृ० १५।

वर्षों में ही कठिनाइयों को हल करना सीख लेता है और अपनी क्षमता में वह विश्वास अर्जित कर लेता है जिसका अपने आप में पर्याप्त मनोवैज्ञानिक मूल्य है। वस्तुत इसका जिस उपयोगिता का विशेष रूप में उल्लेख किया जाना चाहिये, वह है व्यक्ति की अस्मिता या आत्मचेतना का विकास और पोषण। हर प्रतियोगिता की यही उपयोगिता है और पहेली एक प्रकार की प्रतियोगिता है। इसे पूछने वाला व्यक्ति यह सोचता है कि वह अपने प्रतियोगी से अधिक जानता है और उसका उत्तर देने वाला सोचता है कि वह भी वह सब जानता है जिस पर प्रश्नकर्ता अपना एकाधिकार मान रहा है। इस दृष्टिकोण का प्रभाव व्यक्तित्व के बहुत गहरे स्तरों तक पहुँचता है। यह दृष्टिकोण व्यक्ति में साहस, निर्भीकता आदि गुणों के विकास में सहायक सिद्ध होता है।

अपनी विशिष्ट गोपनमूलक शैली और उसकी अवगति की कठिनता के कारण पहेली प्राचीन काल से ही बुद्धि-परीक्षा का साधन रही है। जातक कथाओं में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। गामणीचण्ड जातक में गामणीचण्ड वाराणसी के अल्पवय राजा आदासमुख कुमार से चौदह पहेलियाँ पूछता है। वे पहेलियाँ या समस्याएँ विभिन्न प्राणियों द्वारा गामणीचण्ड के सामने इसलिये प्रस्तुत की जाती हैं कि वह उनका उत्तर राजा से पूछ कर बतला देगा। उदाहरण के लिये, तित्तिर द्वारा प्रस्तुत समस्या इस प्रकार है —'मैं एक ही बाम्बी के पास बैठ कर आवाज लगाने से अच्छी तरह आवाज लगाता हूँ। अन्य स्थानों पर बैठ कर नहीं लगा सकता। इसका कारण क्या है? राजा से पूछना।' आदासमुख कुमार इसका समाधान करते हुए कहता है— 'जिस बाम्बी की जड़ में बैठ, वह तित्तिर अच्छी तरह बोलता है, उसके नीचे बड़े खजाने का घड़ा है। उसे निकाल कर ले जा।"[1] महाजनक जातक में राजकुमारी सीवली अपने भावी पति की परीक्षा पहेलियों द्वारा करती है। उसके द्वारा प्रस्तुत अनेकानेक समस्याओं में एक समस्या या पहेली, निधियों के साथ शेष वस्तुओं के विषय में, मरते हुए राजा का यह उदान है —

> सरियुग्गमणे निधि अथो ओग्गमणे निधि,
> अन्तोनिधि बहि निधि न अन्तो न बहि निधि ॥११॥
> आरोहणे महानिधि अथो आरोहणे निधि,
> चतुरोच महासाला समन्ता योजने निधि ॥१२॥

---

१ जातक (तृतीय खण्ड) अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन १९४६ ३१ ३५।

[illegible] [illegible] [illegible] च [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] च ॥१३॥

सूर्योदय होने के स्थान पर निधि है, सूर्यास्त होने के स्थान पर निधि है। अन्दर निधि है, बाहर निधि है, न अन्दर न बाहर निधि है। चढ़ने की जगह पर निधि है, उतरने की जगह पर निधि है। [illegible] और [illegible] और योजन में भी निधि है। [illegible] के स्थान [illegible] है। [illegible] के सिरे पर, [illegible] में वह वृक्षों पर—[illegible] है। [illegible] के [illegible] का अनुपचन और सीवली की [illegible] ॥११ १२॥[1]

महाजातक इस उत्तर के अभिप्रायों को स्पष्ट करता है। जैसे वह यह बताता है कि इसमें सूर्य का अर्थ है प्रत्यक्ष बुद्ध। उनके ध्यान के समय राजा जहाँ उनकी अगवानी करता था वह सूर्योदय का स्थान है और जहाँ विदा करता था वह सूर्यास्त का स्थान। वह इसी प्रकार राजा द्वारा उल्लिखित निधियों के स्थान निर्धारित करता है और राजकुमारी सीवली से विवाह करने में सफल हो जाता है।

महाउम्मग्ग जातक में राजा कुत्ते और भेड़े को मित्रता पर बड़ा आश्चर्य में पड़ जाता है और दरबार के चार पण्डितों के सामने यह समस्या रखता है—

यस न कदाचि भूतपुब्ब
सखित्त सत्तपदम्पि इमस्मि लोके
जाता अमित्ता दुव सहाया
परिसाचाय चरन्ति किस्स हेतु ॥८॥

(इस दुनिया में जो कभी सैकान्पूर्वक सात कदम भी नहीं चले वे शत्रु आपस में मित्र हो गये। ये किस कारण से मिल कर रहते हैं?)

राजा अपने पंडितों से यह कहता है कि यदि वे दूसरे दिन जलपान के समय तक इस बात का उत्तर नहीं देंगे तो वे दरबार से निकाल दिये जायेंगे।[2]

इस प्रकार की कहानियाँ भारतीय परम्परा की प्राचीनतम पहेली कथाओं के उदाहरण हैं।

वर या वधू की परीक्षा के साधन के रूप में पहेलियों का उपयोग बहुत व्यापक रहा है। आज भी मध्य एशिया की तुर्की लड़कियाँ अपने भावी पतियों

१ जातक पष्ठ खण्ड अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन १९५६ ४२ ४३।
२ वही ३९६।

से पहेलियाँ पूछता है। पहेलियों का सही उत्तर देने में असफल होने पर वे दण्डित होते हैं। भारत की कई आदिम जातियों में आज भी वर से पहेलियाँ पूछी जाती हैं। कुछ अन्य आदिम जातियों में भी यह प्रथा मिलती है।[1] महा-उम्मग्ग जातक में ही बोधिसत्व के अपने योग्य वधू की खोज में निकलने की कहानी मिलती है। मार्ग में वह एक सुन्दरी को देखता है। यह जानने के लिये कि वह विवाहित है या अविवाहित, वह दूर से ही मुट्ठी बाँध कर दिखाता है। वह हाथ खोल देती है। बोधिसत्व यह जान जाता है वह अविवाहित है और समीप आकर उसका नाम पूछता है तो वह यह कहती है—' मेरा नाम वह है जो भूत, भविष्यत, वर्तमान में नहीं है। अभिप्राय यह कि उसका नाम अमरा है।[2]

पहेली का उपयुक्त उत्तर देने का पुरस्कार राजकन्या से विवाह भी हो सकता है, आधा या पूरा राज्य भी और कोई मूल्यवान वस्तु भी। इस प्रसंग में बाइबिल (पूर्व विधान) के समसन की कथा उल्लेखनीय है। समसन ने अपने स्वागत के लिये नियुक्त तिमनाह के लोगों से यह पहेली पूछी :—[3]

भक्षक के अन्दर से वह निकला जो भक्ष्य है
और बलवान के अन्दर से वह निकला जो मधुर।

(न्यायकर्ता १४ : १४)

समसन ने उनसे यह कहा कि यदि सात दिनों के अन्दर वे इस पहेली का उत्तर दे देंगे तो वह उन्हें तीस खण्ड क्षौम और तीस उत्सव वस्तु देगा। उत्तर देने में असमर्थ रहने पर उन्हें इतनी ही वस्तुएं समसन को देनी होंगी। जब वे तीन दिनों तक पहेली का उत्तर देने में असमर्थ रहे तो उन्होंने उसकी वधू को स्वयं उससे उत्तर मालूम करने के लिये फुसलाया और इसके लिये वह उसके कंधे पर उत्सव के सात दिनों तक रोती रही। उसमें इतनी जिद की कि उसने सातवें दिन उसको उत्तर बतला दिया और उसने पहेली का उत्तर अपने साथी देशवासियों को बतला

१ (क) 'विवाह के समय या गौना (द्विरागमन) लेने के लिए वर जब ससुराल जाता है, मनोरंजन एवं स्वागत करने की दृष्टि से पारसा का गाया जाना आवश्यक समझा जाता है। कभी-कभी वर के पिता से भी पारसा का अर्थ पूछा जाता है। (लोकायन : १०१)

२ जातक (षष्ठ खण्ड) : ६५६ : ४११।

३ समसन तिमनाह की ओर जा रहा था। तिमनाह की दाखबारी में उसने एक शेर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। जब कुछ समय बाद वह पुनः उसी रास्ते से गुजारा तो उसने मृत शेर की देह में मधुमक्खियों की भीड़ देखी और मधु भी। पहेली इसी घटना पर आधारित है।

इसकी जानकारी असाधारण—यहां तक कि अतिलौकिक मेधा का प्रमाण मानी जाती थी। तब इसकी जानकारी वह कसौटी बन गयी थी जिसके आधार पर धर्मानुष्ठान में प्रवेश से लेकर कन्या से विवाह तक के अधिकार का निर्णय होता था। सम्प्रति वर परीक्षा के औपचारिक साधन के रूप में इसका उपयोग क्षेत्र विशेष में, अवशिष्ट रह गया है, किन्तु कभी यह अपने मूल जीवन-सन्दर्भ से सम्बन्धित रही होगी।

सम्भवत आज एक भी ऐसी जाति विद्यमान नहीं है जिसमें पहेली-मात्र को उच्च या दाक्षागम्य ज्ञान का आधार माना जाता है। ज्ञात इतिहास में सम्भवत यह कभी ऐसी नहीं रही होगी, क्योंकि प्राचीन काल से ही क्रीडा और गोष्ठी-विनोद के साधन के रूप में भी इसका उपयोग होता रहा है। आज संसार की ग़ैर आदिम और आदिम दोनों जातियों में इसका प्रमुख उपयोग क्रीडा और गोष्ठी विनोद ही है। यह दो व्यक्तियों या दो दलों द्वारा खेल के रूप में खेली जाती है। न केवल अफ्रीका और भारत, वरन् संसार के उन सभी देशों के कबीलों में जिनमें लोक अभिव्यक्ति की विधाओं में पहेली भी एक है, इस प्रसंग में प्राय उन्हीं विधि निषेधों का पालन किया जाता है, जिनका कि कहानी के प्रसंग में, जैसे, यह कि पहेली साँझ या रात में ही पूछी जा सकती है, दिन में नहीं।[१]

प्राचीन भारत में पहेली या प्रहेलिका का अभिजात गोष्ठियों में मनोरंजन के साधन के रूप में उपयोग होता था। कामसूत्र के नागरकवृत्त प्रकरण में उद्यानों में आयोजित विभिन्न गोष्ठियों की चर्चा मिलती है जैसे—पदगोष्ठी, काव्य-गोष्ठी, जलगोष्ठी, गीतगोष्ठी, नृत्यगोष्ठी आदि। पदगोष्ठी में मात्राच्युतक, अक्षरच्युतक आदि विभिन्न प्रकार की पहेलियाँ रहती थीं। इसमें नागरकों के लिये मनोविनोद का यह निर्देश मिलता है— घटानिबन्धनम गोष्ठीसमवाय, समापानकम उद्यान गमनम्, समस्या क्रीडाश्च प्रवर्तयेत ॥१४॥ उद्यानगमनम पर विचार करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने यह कहा है कि इन उद्यानयात्राओं या पिकनिक-पार्टियों में हिंदोल-लीला, समस्यापूर्ति, आख्यायिका, बिंदुमती आदि प्रहेलिकाओं के खेल होते थे। (प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद १९५२ ११३-१४)

---

१ मुण्डा में पहेली के खेल को "नुतुम-कहानी-एने (एनसाइक्लोपीडिया मुण्डारिका २०५७) कहा गया है।

मडक ने खेल या मनोरंजन के साधन के रूप में अमोग्रन और कजाक जातियों के बीच इसके उपयोग का चर्चा की है। (आवर प्रिमिटिव कनटेम पोररीज, पुनर्मुद्रण १९६१ ६५, १५३)

कादम्बरी (कथामुख शूद्रकवर्णनम) में राजसभा के मनोविनोदों का विस्तृत विवरण है। विदिशा के राजा शूद्रक के विषय में यह कहा गया है—(स) कदाचिन्दक्षरच्युतक मात्राच्युतक बिन्दुमती-गूढचतुर्थपाद प्रहेलिका प्रदानेभि दिवसमनयीत।[1] श्रीमता के यहाँ इसी पूछ के कारण प्रहेलिका की गणना कलाओं और काव्य के भेदों में होने लगी। कामसूत्र समवायांग सूत्र जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति और औपपातिक की कलासूचियों में इसका एक स्वतन्त्र कला के रूप में उल्लेख है।[2] संस्कृत काव्यशास्त्र ने इसकी गणना अलंकारों में की है। यह भोज के शृंगार प्रकाश, प्रकाशवर्ष के रसार्णवालङ्कार और केशव मिश्र के अलंकारशेखर में चर्चित अलंकारों में से एक है। लेकिन इनसे पूर्व दण्डी और रुद्रट ने इसके स्वरूप और भेदों पर विचार किया। दण्डी ने काव्यादर्श (३/१०६) में इसके तीस भेद बतलाये हैं। विष्णुधर्मोत्तर (तृतीय काण्ड सत्रहवाँ अध्याय) में भी इसके भेदों की एक लम्बी तालिका मिलती है। लेकिन इसने इसे काव्य के दोषों में गिना है (काव्ये येऽभिहिता दोषा कथितास्म्य प्रहेलिका ॥१॥) दण्डी और रुद्रट, दोनों प्रहेलिका के मूल्य से परिचित थे। रुद्रट ने स्पष्टतः यह कहा है— मात्राच्युतक, बिन्दुच्युतक प्रहेलिका कारकगूढ क्रियागूढ, प्रश्नोत्तर आदि तथा इसी प्रकार के अन्य रूप केवल मनोविनोद के लिये ही होते हैं।" (मात्राबिन्दुच्युतक प्रहेलिका कारकक्रियागूढे। प्रश्नोत्तरादि चान्यत क्रीडामात्रोपयोगमिदम। ११-५/२४) ध्वन्यालोक (चौखम्बा १९४० १००) के आनन्दवर्धन के लिये तो इस सम्बन्ध में कोई कठिनाई ही नहीं थी क्योंकि जिसमें ध्वनि नहीं, वह काव्य भी नहीं। साहित्यदर्पणकार ने इस पर यह कहा कि केवल ध्वनि की दृष्टि से

---

१ कभी अक्षरच्युतक (जिस छन्द का एक अक्षर निकाल देने से दूसरा अर्थ निकले) मात्राच्युतक (जिस छन्द की एक मात्रा परिवर्तित हो जाने से दूसरा अर्थ निकले), बिन्दुमती (जिस रचना में अक्षरों के स्थान में केवल बिन्दु रख दिये जायँ) एवं गूढचतुर्थपाद (जिस पद्य के चौथे चरण के अक्षर पहले तीन चरणों में छिपे हों) नामक काव्यचर्चा तथा पहेलियों के निर्माण करने कराने में व्यस्त रहता था।

—कादम्बरी अनु० तथा टीकाकार—श्रीकृष्णमोहन शास्त्री १९६१ २० २१

२ कामसूत्र की कलासूची में प्रहेलिका २ की है। समवायांग सूत्र में बहत्तर कलाओं का उल्लेख है जिनमें इसका स्थान बीसवाँ है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में पुरुषों की बहत्तर और स्त्रियों की चौंसठ कलाएँ बतलायी गयी हैं। इनमें प्रश्नप्रहेलिका भी एक है। जैनियों के आगमों के पहले उपांग औपपातिक में कलाओं की संख्या बहत्तर कही गयी है जिनमें एक है प्रहेलिका (सू० २१)।

विचार करने पर प्रहेलिका के काव्यत्व का निर्णय करना कठिन है। केवल ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने पर इस काव्य की सीमा से बाहर मानना उचित नहीं है क्योंकि इसमें वस्तुध्वनि विद्यमान रहती है। इसके विपरीत रस को काव्य की आत्मा मानने पर प्रहेलिका को काव्य मानने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यह विशुद्ध उक्तिवैचित्र्य है और रसनिष्पत्ति में बाधक है।[१]

रस और ध्वनि-वादियों की आलोचना के बावजूद एक स्वतन्त्र काव्यशैली के रूप में पहेली की लोकप्रियता कम नहीं हुई। अभिजात संस्कृति के मनोविनोद और वाग्विलास के ललित साधन के रूप में यह निरन्तर समृद्ध होती गयी और वह परम्परा बन गयी जिसे आज साहित्यिक पहेली के नाम से जाना जाता है। भारत में साहित्यिक पहेली का इतिहास बहुत पुराना है, यद्यपि पुरानी पहेलियों के बारे में अधिकतर स्थितियों में, यह निर्णय कठिन है कि उन्हें लोक और साहित्यिक, इन दोनों में से किस वर्ग में रखा जाये। वैदिक और बौद्ध पहेलियों में लोक और शिष्ट, दोनों परम्पराओं का संयोग है किन्तु महाभारत में इनमें वह परिष्कार और कौशल मिलता है जो शुद्ध साहित्यिक पहेली का लक्षण है। इस सम्बन्ध में वारणावत जाते समय युधिष्ठिर को विदुर द्वारा दिये गये परामर्श की चर्चा की जा सकती है।[२] संस्कृत में काव्यशैली की जो संकल्पना मिलती है उसमें भाव के प्रत्यक्ष अभिधामूलक प्रकाशन की तुलना में अप्रत्यक्ष या लक्षणा और व्यंजनाप्रधान अभिव्यक्ति का अधिक महत्त्व है। स्वाभाविक है कि इस शैली में श्लेष, यमक, प्रहेलिका आदि युक्तियाँ प्रधान होती गयीं। शुद्ध प्रहेलिका शैली में लिखी गयी वे रचनाएँ जो काव्यरसिकों के बीच समादृत हुईं, गोकुल के राजा नागराज का 'भावशतक' और धर्मदास का 'विदग्धमुखमण्डन' हैं।

१ रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका।
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका॥ (साहित्यदर्पण दशम परिच्छेद)

२ उदाहरणार्थ —
अलोहं निशितं शस्त्रं शरीरपरिकर्तनम्।
यो वेत्ति न तु तं घ्नन्ति प्रतिघातविदं द्विषः॥२२॥
— एक ऐसा तीखा शस्त्र है जो लोहे का बना तो नहीं है परन्तु शरीर को नष्ट कर देता है। जो उसे जानता है ऐसे उस शस्त्र के आघात से बचने का उपाय जानने वाले पुरुष को शत्रु नहीं मार सकते॥२२॥

यहाँ संकेत से यह बात बतायी गयी है कि शत्रुओं ने तुम्हारे लिए एक ऐसा भवन तैयार करवाया है जो आग के भड़काने वाले पदार्थों से बना है। शस्त्र का शुद्ध रूप 'सस्त्र है जिसका अर्थ घर' होता है।— महाभारत (गीता प्रेस) ४.८।

भावशतक की प्रहेलिकाएँ शृंगार प्रधान हैं और उनमें से हर एक का उत्तर गद्य में दिया गया है। यह कहना कठिन है कि यह उत्तर स्वयं कवि की रचना है या बाद में किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा जोड़ा गया है। विदग्धमुखमण्डन पण्डितों की बुद्धि परीक्षा के लिये रची गयी मुख्यतः व्याकरण और काव्यशास्त्र सम्बन्धी प्रहेलिकाओं का संकलन है। दोनों तेरहवीं शताब्दी से पूर्व की कृतियाँ हैं।

वस्तुतः जिस प्रकार शिष्ट साहित्य ने लोक साहित्य के कहानी और गीत जैसे रूपों का उपयोग किया है उसी प्रकार पहेली का भी। न केवल भारत, वरन् एशिया और यूरोप के अनेक देशों के साहित्य में कविता की एक विधा के रूप में इसे अपनाया गया और इसे ईर्ष्य लोकप्रियता मिली।

चीन के विषय में यह प्रसिद्ध है कि बारहवीं सदी में उसकी राजधानी के समीप पिएन लियांग नामक नगर में पहेली रचना के कई सम्प्रदाय थे और तेरहवीं सदी में हाङचाव में पहेलियों पर गोष्ठियों में विचार विमर्श होता था। मध्य एशिया में पहेली रचना की कला का सर्वोच्च विकास अरब में हुआ। इसका सबसे बड़ा आचार्य अल-हरीरी (ग्यारहवीं सदी) था। दूसरे पहेलीकार, जो श्रेष्ठ महत्त्व पा चुके हैं इब्न मक्कारी (९०० ई०) इब्न शाबिन (११०७ ७५ ई०) अबू सम्फती (११०० ई०) और कारदोवा के अबू ताहिर मोहम्मद इब्न यूसुफ हैं। चौदहवीं सदी के हाजी खलीफा ने अरबी पहेलियों पर एक पुस्तक लिखी है जिसमें उसने न केवल अरबी पहेलियों की सूची दी है वरन् अपने पूर्ववर्ती और समकालीन पहेलीकारों की भी। सामी परिवार की ही दूसरी भाषा हिब्रू या इब्रानी में भी इस विधा के उपयोग का इतिहास बहुत पुराना है। बाईबिल और तालमुड दोनों में पहेलियाँ हैं। लेकिन स्पेन के यहूदियों ने इस कला को उत्कर्ष पर पहुँचाया। इन यहूदी पहेलीकारों में दुनाश बेन लबरत मोसेस इब्न एजरा यहूदा हलेवी और इम्मानुअल बेन सोलोमन बेन जेकुथिएल के नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। लबरात की पहेलियाँ जो हाल में ही प्रकाश में आयी हैं, अपनी कलात्मकता और वैविध्य के कारण पहेली रचना के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण समझी जाती हैं।

स्पेन से पन्द्रह सौ ईस्वी के आस-पास यह कला तुर्किस्तान पहुँची और व्यापारी वर्ग में विशेष लोकप्रिय हुई। तुर्की पहेलीकारों में मसाला के व्यापारी फानी और जौंक बेचने वाले मामाजी के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि फारस में इस कला का अरब जैसा विकास नहीं हुआ फिर भी दसवीं सदी के राजी, असजादी और निसान जैसे व्यक्तियों के नाम ख्यात पहेलीकारों की सूची में परिगणनीय हैं। इनके समकालीन फिरदौसी ने शाहनामा में सृष्टि-सम्बन्धी पहेलियाँ लिखी हैं।

एक विधा के रूप में पहेली यूरोप के लिये नयी थी। ग्रीक भाषा में इसकी

भारत में भी यज्ञ में ब्रह्मोद्य नाम की पहेलियाँ पूछा जाती थी। ये मन्त्रों की तरह ही देवताओं के पूजन का एक महत्वपूर्ण साधन थीं। इस आशय के उल्लेख वैदिक साहित्य में ही मिलते हैं कि देवता को रहस्यमय, गूढ़ और सांकेतिक वस्तुएँ प्रिय हैं। (शतपथ ६/१/१/२ बृहदारण्यक ४/२/२/)। यजुर्वेद (वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल) के तेईसवें काण्ड में वे ब्रह्मोद्य मिलते हैं जो अश्वमेध में अश्व की बलि से पूर्व होता अध्वर्यु उद्गाता और ब्राह्मण द्वारा परस्पर पूछे जाते थे —

क स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।
कि स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत्।

(होता —) 'कौन अकेले चलता है? कौन बार बार जन्म लेता है? शीत की औषधि कौन है? अन्न का महान पात्र क्या है?''

सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥४६॥

(अध्वर्यु —) सूर्य अकेले चलता है चन्द्रमा बार-बार जन्म लेता है। शीत की औषधि अग्नि है पृथ्वी अन्न का महत पात्र है।'

कि स्वित्सूर्यसमं ज्योतिः किं समुद्रसमं सरः।
किं स्वित्पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते ॥४७॥

(अध्वर्यु —) सूर्य-जैसी ज्योति कौन है? समुद्र जैसा जलाशय कौन है? पृथ्वी से बड़ा कौन है? वह कौन है जिसका परिमाण अज्ञात है?

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमं सरः।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ॥४८॥

(होता —) ब्रह्म सूर्य जैसी ज्योति है आकाश समुद्र-जैसा जलाशय है। इन्द्र पृथ्वी से बड़ा है गौ का परिमाण अज्ञात है।'

केष्वन्तः पुरुष आविवेश कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतद्ब्रह्मन्नुप वल्हामसि त्वा किं स्विन्नः प्रति वोचास्यत्र ॥५१॥

(उद्गाता —) किन पदार्थों में पुरुष सन्निविष्ट हो गया है। कौन-से पदार्थ पुरुष में समाये हुए हैं? हे ब्राह्मण मैं यह ब्रह्मोद्य तुमसे पूछता हूँ तुम्हारे पास इसका उत्तर क्या है?

पञ्चस्वन्तः पुरुष आ विवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत् ॥५२॥

(ब्राह्मण —) वे पाँच हैं जिनमें पुरुष ने प्रवेश किया है और वे ही पुरुष में समाये हुए हैं। यही उत्तर मैंने तुम्हारे लिये सोचा है। माया (ज्ञान शक्ति) में तुम मुझसे बढ़कर नहीं।

तैत्तिरीय (का० ७/प्र० ३/अनु० १८) में भी इसी प्रकार के ब्रह्मोद्य मिलते हैं।[1]

अथर्ववेद के कुन्ताप सूक्त (२०/१२७ १३८) के अन्तर्गत ऐतशप्रलाप, प्रव ह्लिका और आजिज्ञासेन्या नामक पहेलियाँ मिलती हैं जिनका आनुष्ठानिक महत्व था। एतश भृगुवंशी और्व कुल के ऋषि थे। ऐतरेय ब्राह्मण (६/३३) में यह कथा मिलती है कि जब एतश ने "अग्नेरायु" मंत्र के दर्शन किये और उन्हें अपने पुत्रों को सुनाने लगे तो उन्होंने समझा कि पिता जी पागल हो गये हैं और उनका मुँह बन्द कर दिया। यज्ञ में एतशप्रलाप के पाठ से सम्पन्नता आती है और आनुष्ठानिक त्रुटियों का परिहार होता है। ' ऐतशप्रलाप जीवन है, जो इस रहस्य को समझता है, वह इस प्रकार यजमान के जीवन को बढ़ा देता है। प्रवह्लिका को अमरकोश में पहेली से अभिन्न माना गया है (प्रवह्लिका प्रहेलिका) भानुजी के अनुसार इसकी व्युत्पत्ति ह्वल से हुई है जिसमें 'प्र' जोड़ दिया गया है और जिसका अर्थ है आच्छादन करना—प्रवह्लिता आच्छादयति। वे यह कहते हैं कि दोनों एक हैं—द्वे दुर्विज्ञेयार्थ प्रश्नस्य। ऐतरेय में यह उल्लेख है कि प्रव ह्लिका से देवताओं ने असुरों को हराया (प्रवह्लय) इसलिये यज्ञ में इसके पाठ से यजमान अपने शत्रुओं को पराजित करता है। देवताओं ने आजिज्ञासेन्या नामक मंत्रों से असुरों को पहचान कर (आशाय) परास्त कर दिया था इसलिये इनके पाठ द्वारा यजमान भी अपने शत्रुओं को परास्त कर देता है।[2]

---

१ ब्रह्मोद्यम ॥ १ ४ अनुष्टुप ५ ६ त्रिष्टुप। विश्वदेवा ऋषय ॥
किं स्विदासीत् पूर्वचित्ति किं स्विदासीद्बृहद्वय ।
किं स्विदासीत पिशङ्गिला किं स्विदासीत पिलिप्पिला ॥
द्यौरासीत पूर्वचित्तिरश्व आसीद्बृहद्वय ॥
रात्रिरासीत पिशङ्गिलाविरासीत पिलिप्पिला ॥ इत्यादि

२ ऐतरेय ब्राह्मण अनु० गंगाप्रसाद पाण्डेय १९४६ ४०१ ४०३

जिस प्रकार सामान्य लोक पहेलियों में किसी वस्तु का उल्लेख कर यह कहा जाता है कि यह वह नहीं है जिसका इन (लक्षणों) के आधार पर भ्रम हो सकता है (जैसे—लक्लपेटण सीतहर नहिं लंकापति राव) ठीक उसी प्रकार अथर्ववेद की प्रवह्लिकाओं में यह कहा गया है कि हे कुमारी तुम जो सोचती हो, यह वह नहीं है। प्रवह्लिकाएँ इस प्रकार हैं—

विततौ किरणौ द्वौ तावा पिनष्टि पुरुष ।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥१॥
मातुष्टे किरणौ द्वौ निवृत्त पुरुषानृते ।

प्रश्न यह है कि विशेष विशय अवसरों पर पहेलियाँ क्या पूछी जाती रही हैं? स्वयं फ्रेज़र, जिसने पहेलियों के इस उपयोग का निर्देश किया, इस समस्या का कोई सतोषजनक समाधान प्रस्तुत नही कर सका। उसने केवल यही कहा कि इनकी रचना तब हुई होगी जब वक्ता को अपनी बात को प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति में कठिनाई हुई होगी। लेकिन यह वास्तविकता की आंशिक व्याख्या भर है। इनके आनुष्ठानिक उपयोग के मूल कारण के निर्देश के लिये इन्हें एक बृहत्तर भूमिका में रखकर देखने की आवश्यकता है। वह भूमिका जादू और प्रकारान्तर से आदिम मानस की है।

जादू को कभी पूर्व विज्ञान और कभी मिथ्या विज्ञान कह देने से ही इसके साथ न्याय नहीं हो जाता, वरन यह कहना अधिक उचित है कि यह वास्तविकता के एक विशेष प्रकार का बोध और उसके नियमन का माध्यम है। यह माध्यम आदिम संस्कृति में अस्तित्व की समस्याओं के निदान का वैसा ही संगत रूप रहा है जैसा कि औद्योगिक प्राविधिक संस्कृति में विज्ञान। इसका जिस प्रतीकात्मक व्यवहार से सम्बन्ध है वह मानव मनोविज्ञान की बुनियादी विशेषता है। इस व्यवहार के बौद्धिक और गैर-बौद्धिक (भावनात्मक) दोनों रूप सहवर्ती हैं और क्रमशः विज्ञान और जादू के रूप में व्यक्त हुए हैं।

पहली एक प्रकार का अनुकरणात्मक जादू है जिसके मूल में यह धारणा काम करती है कि वस्तु का अनुकरण उसकी उपलब्धि है। यदि फसल की समृद्धि के लिये लोग उछलते और नृत्य करते हैं तो इसका अर्थ यही है कि पौधे उनकी उछाल की ऊंचाई पास करें। वर्षा नहीं होने पर जमीन पर पानी गिराते हुए वर्षा का अनुकरण किया जाता है और यह मान लिया जाता है कि वर्षा हो जायेगी। यह एक प्रकार की समानान्तरता का विधान है जो इच्छित वस्तु और उसके अनुकरण की अभिन्नता के दर्शन पर आधारित है। यदि सामूहिक या वैयक्तिक जीवन के संकटपूर्ण क्षणों में पहेलियाँ पूछी जाती हैं तो इसका अभिप्राय

निगृह्य कर्णकौ द्वौ निरायच्छसि मध्यमं।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥३॥
उत्तानायै शयानायै तिष्ठन्ती वावगूहसि।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥४॥
श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायां श्लक्ष्णमेवावगूहसि।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥५॥
अवश्लक्ष्णमिव भ्रंशदन्तर्लोममति ह्रदे।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥६॥

कहा जा सकता है कि पहेली का निदान प्रस्तुत संकट का निदान है। इसके सही उत्तर की प्राप्ति एक प्रकार का शकुन है जो प्रश्नकर्ता के मन में भावी सफलता का विश्वास उत्पन्न करता है। वर से पहेली पूछने की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं यह आस्था विद्यमान रहती है कि जो वर इसका सही उत्तर देगा, वह वैवाहिक जीवन की कठिनाइयों का भी हल निकाल सकेगा। इस तरह प्रह्मोद्यों के निदान का अवचेतन अभिप्राय यह रहा होगा कि यज्ञ सफल होगा।

यदि पहेली का निदान आसन्न संकट से मुक्ति है तो इसके निदान में असफलता का अर्थ विपत्ति है। देवताओं की प्रवह्लिकाएँ नहीं समझने के कारण असुरों की पराजय हो गयी और उल्लिखित लोक कथा की राजकुमारी की पहेली बूझने में असमर्थ व्यक्तियों की मृत्यु। इसी आधार पर यह समझा जा सकता है कि क्यों ग्रीक कथाओं में स्फिक्स की पहेली सुन कर निरुत्तर हो जाने के दुष्परिणाम का उल्लेख किया गया है और होमर के बारे में यह कहा गया है कि जू-सम्बन्धी पहेली नहीं बूझ सकने के कारण ही उसकी मृत्यु हुई।

यदि और भी गहराई से विचार किया जाये तो यह प्रतीत होगा कि पहेली का यह महत्व मानस की उस मिथिक चेतना की उपज है जिसके अनुसार शब्द स्वयं वस्तु या क्रिया है। अन्यथा कोई कारण नहीं कि पहेली का अर्थ जीवन की समस्या और इसे सुलझाने का अर्थ कठिनाई या समस्या सुलझाना हो जाये। शब्द को वस्तु मानने के कारण ही धर्मग्रंथों में उससे सृष्टि की धारणा व्यक्त हुई है। उनमें यह कहा गया है कि आदि में शून्य या अनस्तित्व था। ईश्वर ने कहा कि 'हो जा और हो गया' (कुन फयकून) 'ईश्वर ने कहा कि प्रकाश हो जाय और प्रकाश हो गया।' मनुस्मृति के अनुसार विधाता ने आदियुग में जगत की रचना वेद के शब्दों से की (सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥) चूंकि बोलने का अर्थ है हो जाना, इसलिए शब्द को सभी वस्तुओं का मूल और सबसे अधिक शक्तिशाली माना गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[१] कहता है — वाक् पर ही सभी देवता, गंधर्व पशु और मनुष्य आश्रित हैं। वाक् में समस्त जगत् के प्राणी अवस्थित हैं। वाक् अविनश्वर ऋत की प्रथम संतान, वेदों की माता और अमृत लोक की नाभि है।' वाक् या शब्द पर अधिकार स्वयं वस्तु पर अधिकार है। यही

---

१ वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे। वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ॥ वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता। वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य। वेदानां मातामृतस्य नाभिः।

(२८।८।४)

वह सूत्र है जिसके आधार पर जादू और धर्म में मंत्र, अभिचार, नामजप और शाप की महिमा को समझा जा सकता है। यही सूत्र आदिम जातियों के नाम सम्बन्धी निषेधों की व्याख्या करता है। बहुत-सी आदिम जातियों में लोगों के दो नाम होते हैं—वास्तविक और सार्वजनिक।—वास्तविक नाम गोपनीय होता है क्योंकि उसे जान जाने पर जादूगर उस पर प्रयोग कर नामधारी व्यक्ति को हानि पहुंचा सकता है। नाम और व्यक्ति के इस मानसिक तादात्म्य के कारण ही अलगानकियन समान नाम वाले व्यक्तियों को एक दूसरे का प्रतिरूप मानते हैं और एस्किमो यह कहते हैं कि व्यक्तित्व के तीन तत्व हैं—देह, आत्मा और नाम।

शब्द और वस्तु का यह अभिन्नता पहेली के आनुष्ठानिक उपयोग के अतिरिक्त इसके तत्वज्ञानमूलक उपयोग की भी व्याख्या करता है। मैंने इस निबन्ध में पहले भी यह कहा है कि पहेली की संरचना में कहीं बहुत गहराई में यह विश्वास बद्धमूल है कि जटिल और गूढ़ शैली का अर्थ जटिल और गूढ़ ज्ञान है। यही कारण है कि पहेली वेदों से लेकर संतसाहित्य तक तत्वज्ञान की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त होती रही है।

यह सच है कि संस्कृति के विकास-क्रम में इसने कार्यात्मक वैविध्य अर्जित किया है और परवर्ती युगों में यह क्रीडा और गोष्ठी विनोद की वस्तु हो गयी है किन्तु यही बात बहुत-सी सांस्कृतिक संस्थाओं और शिल्पकथा के प्रसंग में भी सत्य है। इसका कभी दीक्षागम्य या गूढ़ ज्ञान का विषय होना वह संकेत है जिसकी सहायता से इसके आदिम मूलों तक पहुँचा जा सकता है। आज भी माकुआ जाति (अफ्रीका) में कुछ ऐसी गीतात्मक पहेलियाँ विद्यमान हैं जिनका अर्थ दीक्षित व्यक्ति ही जान सकता है। वस्तुतः पहेली का तत्वज्ञानमूलक उपयोग बहुत व्यापक रहा है।

ग्रीस में पुजारियों के माध्यम से प्राप्त भविष्य-कथन करने वाली देववाणियाँ (आरॉकल्स) ही पहेलीमूलक नहीं होती थीं वरन् वहाँ देववाणियाँ भी जो तत्वज्ञान का विवेचन करने वाली मानी जाती थीं। वेद में ब्रह्मोद्य शैली की बहुत सी रचनाएं हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र (१२|४|५०) के अनुसार ब्रह्मोद्य का अर्थ है ब्रह्मतत्व का निरूपण करने वाला वाक्य (ब्रह्मप्रतिपादक वाक्य)। वस्तुतः ब्रह्मोद्य को यजुर्वेद या एतश प्रलाप तक सीमित कर देखना उचित नहीं है। पहले भी उन्हें पृथक्-पृथक् वर्ग के रूप में देखा गया था। बृहद्देवता में मनु द्वारा रचित त्रिभुवका विष्णु सूक्त (ऋ० ८|२९) को मनु प्रवह्लक कहा गया है और 'यद् इन्द्राहम' (ऋ० ८|१४|१) की गणना एतश प्रलाप में की गयी है।

उपर्युक्त प्रकृति की वैदिक रचनाओं में सृष्टि रचना तथा देवताओं, प्राकृतिक

पदार्थों और घटनाओं का निरूपण मिलता है। उनमें से अनेक का अर्थ सामान्य लोकपहेली से अधिक अस्पष्ट नही है—सच तो यह है कि सामान्य लोकपहेली से बहुत भिन्न नही है। ऋग्वेद की यह ऋचा (१|१६४|४८) इसी प्रकार की है —

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नाभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन् त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिता षष्टिर्न चलाचलासः ॥

'बारह परिधियाँ, एक चक्र और तीन नाभियाँ हैं। यह कौन जानता है? इस चक्र में तीन सौ साठ अराएँ हैं। यह न चल है और न अचल।'

इस ऋचा का विषय वर्ष है। इसमें उल्लिखित चक्र, बारह परिधियाँ, तीन नाभियाँ और तीन सौ अराएँ क्रमश वर्ष, बारह महीने, तीन ऋतुएँ और तीन सौ साठ दिन हैं। किन्तु इसी सूक्त की दूसरी ऋचा का अर्थ इतना स्पष्ट नही है।[1]

परवर्ती व्याख्याकारों ने इस प्रकार की ऋचाओं की व्याख्या का प्रयत्न किया है लेकिन यह कहना बहुत कठिन है कि वह सदैव सही है। अनेक उदाहरणों में वह विशुद्ध आत्मारोपण भी हो सकती है। ऐसा सोचना असंगत नही है क्योंकि व्याख्या वेद की ऋचा की हो या आधुनिक कविता की, उसकी मूलभूत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में कोई भेद नही है। अपने सफलतम रूप में भी वह रचनाकार के मूल अभिप्राय का यथावत स्पष्टीकरण न होकर उसका निकटतम पुनःसृजन है और जहाँ उसका सम्बन्ध संदिग्ध और बहुत भिन्न हो गये भाषिक सदर्भों से है वहाँ निकट या निकटतम न होकर या तो स्वल्पस्पष्ट है या अनुमान पर आधारित मानसिक रचना।

वेदोत्तर साहित्य में उन कथितार्थ या प्रश्नोत्तरी पहेलियों का बाहुल्य मिलता

---

१ सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वाभुवनानि तस्थुः ॥

एक चक्र वाले रथ में सात घोडे जुते हुए हैं। वह सात नामा वाले घोडों के द्वारा खींचा जाता है। तीन नाभियाँ हैं जो न जीर्ण होती है न रुकती है उन्हीं नाभियों में विश्व के समस्त प्राणी अवस्थित हैं।

बहुत सम्भव है कि यहाँ सूर्य के चक्र का वर्णन किया गया हो जिसे खींचने वाले घोडों की संख्या सात मानी गयी है और जिसकी तीन नाभियाँ हैं (या हो सकती हैं) तीन ऋतुएँ। किन्तु यह कहना कठिन है कि "वह सात नामा वाले एक घोडे के द्वारा खींचा जाता है" का अर्थ क्या है। वस्तुतः इस ऋचा की अन्य व्याख्याएँ भी सम्भव है।

ह जिनका प्रयोजन तत्वमीमासा है, किन्तु इस प्रकार की पहेलियाँ वेद में भा विद्यमान ह । इनका प्रतिनिधि उदाहरण अथर्ववेद का विराजसूक्त ह जिसमें इस शली की बहुत-सी पंक्तियाँ मिल जाती है । विराजसूक्त (८|९) में ऋषि यह प्रश्न करता है— 'कौन गो ह, कौन एक ऋषि ह, धाम क्या है, आशिष क्या ह ? पृथ्वी पर एकमात्र यक्ष क्या (—कौन) ह ? क्या ह एक ऋतु ?'' काश्यप द्वारा दिया गया उत्तर इस प्रकार ह— एक ह गो एक ह यक्ष, एक ह धाम और एक ह आशिष । पृथ्वी पर रहने वाला यक्ष एक ह एक ऋतु के अतिरिक्त और कुछ नही ।[1]

इस प्रसग म महाभारत के यक्ष प्रश्न की चर्चा बार-बार होती रही ह, लेकिन प्रश्नोत्तर शैली की तत्वज्ञानमूलक रचनाओ की परम्परा बौद्ध और जन साहित्य में भी मिलती है । सरभग जातक म शक्र प्रश्न करता ह और बोधिसत्व उसका उत्तर देते ह ।[2] आलवक-सुत्त (१/१०) और सुचीलाम सुत्त (२/५) में महाभारत की तरह ही यक्ष प्रश्नकर्ता की भूमिका म ह । सयुत्तनिकाय के देवता-सयुत्त म यह पूछा गया ह— क्या तुमको कोई छोटी कुटी नही है ? क्या तुमको कोई नीड नही ? क्या तुमको कोई वश नही ? क्या तुम बन्धनो से मुक्त हो ? और इसके प्रत्येक शब्द पर विचार करत हुए विस्तार के साथ उत्तर दिया गया है । जनो के उत्तरज्झयण—उत्तराध्ययन सूत्र (अध्याय—१८) में ब्राह्मण और जन भिक्षु का वार्तालाप इसी शली में ह ।

यह सोचना असगत नही ह कि पहेली क तत्वज्ञानमूलक उपयोग की इस अखंडित परम्परा का ही सिद्धो की सध्याभाषा और सतो की उलटबासी के रूप म विकास हुआ ह । सध्याभाषा या उलटबासी कोरा शब्द-चमत्कार नही ह वह

---

१ का नु गो क एकऋषि किमु धाम का आशिष ।
यक्ष पृथिव्यामेकवृदेकऋतु कतमो नु स ॥ २५ ॥
एको गोरेक एकऋषिरेक धामैकधाशिष ।
यक्ष पृथिव्यामेकवृदकऋतुनातिरिच्यते ॥ २६ ॥

२ सुभासित ते अनुमोदियान
अञ्ज ते पुच्छामि, तद इन्घ ब्रूहि
सील सिरी चापि सत च धम्मा
पञ्जा च क सेट्ठतर वदन्ति ॥ ३१ ॥

(तेरे सुभाषित का अनुमोदन करता हुआ मैं तुझसे दूसरा प्रश्न पूछता हूँ वह कह । शील सौभाग्य सत्पुरुषो का धर्म और प्रज्ञा—इनमें सर्वश्रेष्ठ क्या है ?) ॥ ३१ ॥

अपन मूल रूप में गूढ़ और वचित्र्यमूलक विषयवस्तु की प्रकृत अभिव्यक्ति ह। उसका विशिष्ट शली जिस गूढ या दीक्षागम्य नान का सवहन करती है, वह (सध्याभाषा—उलटबासी) रचयिताओ की दृष्टि में उच्चतम नान था। अन्यथा कोई कारण नही कि वह पडितो और नानियों से चुनौती के रूप में पूछी जाती या यह कहा जाता कि जो उस जानता है, वही सच्चा पडित ह।

यह कहना तत्वनानमूलक पहलिया की पूववर्ती परम्परा की अपक्षा म सध्याभाषा और उलटबासी की निजी विशपताओ का अस्वीकार नही ह। सिद्धों नाथो और सतों की पहेलिया में योग और तत्र की जो शब्दावली मिलती है वह अपनी परिभाषा की दृष्टि स भी उल्लेख्य प्रतीत होती ह। वस्तुत परवर्ती बौद्ध धम के समानान्तर विकसित सभी धमसाधनाओं में योग और तत्र का प्रभाव बढता गया ह। यह प्रभाव सिद्धो, नाथो और सतो तक विद्यमान हैं और उनक दाशनिक और काव्य प्रथा में योग और तत्र की शब्दावली के रूप में व्यक्त हुआ ह। लेकिन उनकी पहेलिया में वस्तुओं के दूरारूढ तादात्म्यीकरण द्वारा उपमेय के स्थान में उपमान (जसे—ससार के लिये सागर, अनानी जीव क लिये बल, सहस्रार के लिये शून्य, आदि) के प्रयोग की जो प्रक्रिया मिलती ह या अकों की जो प्रतीकात्मता विद्यमान ह, वह नितान्त आकस्मिक नही ह। उदाहरणाथ, अका की प्रतीकात्मकता वैदिक साहित्य में ही मिल जाती ह।[1]

---

१ इस प्रसग म विराजसूक्त (अथववेद—८/६) की ये पक्तियाँ उद्धत की जा सकती ह —

यानि त्रीणि बहन्ति येषा चतुथ वियुनक्ति वाचम ।
ब्रह्मैतद् विद्यात तपसा विपश्चिद यस्मिन्नेक युज्यते यस्मिन्नेकम ॥१॥
बहत परि सामानि षष्ठात पश्चाधि निर्मिता ।
बृहद् बहत्या निर्मित कुतोऽधि बहती मिता ॥४॥

(वे बहत तीन कौन ह जिनका चौथा वाणी का विभाजन करता ह? विद्वान् इस ब्रह्म (नान) को जाने जिसम एक भी ह और अनेक भी। बृहत के छठें से पाच सामा की रचना हुई। बृहती से बहत की रचना हुई, (किन्तु) कस वह बहता मित हुई?)

यहाँ बहती छन्द में रचे गये विभिन्न सामो को बहत कहा गया है। उल्लिखित वह तीन बहती छन्द में रहने वाले देवता ह।

शतपथ ब्राह्मण (६/८/२/७) में यह कहा गया ह—"वह चार से लेता ह वह दस प्रकार उस (अग्नि को) चतुष्पदों की हवि देता ह। × × वह तीन से लता ह इससे सात हो जाता ह।

प्राचीन तत्त्वज्ञानमूलक पहेलियों की लोक परम्परा भी इस निष्कर्ष का समर्थन करती है। कौरवी या गढ़वाली प्रदेश में प्रचलित मल्हार या पल्हाया नामक रचनाओं के महत्त्व पर विचार करते हुए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने यह कहा है कि 'यह संस्कृत 'प्रवह्लिका'' का प्राकृत रूप है।''[1] उन्होंने मल्होरों की प्रकृति का विश्लेषण करते हुए यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि इनका एतशप्रलाप प्रवह्लिका आजिज्ञासेन्या आदि से गहरा सम्बन्ध है।[2] हरियानी के मल्होरों के विषय में डा० शंकरलाल यादव का उल्लेख भी विचार की अपेक्षा रखता है कि इनमें से अनेक की शैली पहेली या उलटबासी जैसी है।[3] इस जाति के कई गीत कबीर आदि कवियों के साहित्य से लिये गये हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि मल्हार, गाहा या पल्हाय लोक और शिष्ट परम्पराओं के पारस्परिक प्रभाव के उदाहरण हैं, किन्तु इसके आधार पर यह सोचना संगत नहीं होगा कि सन्ध्याभाषा या उलटबासी जाति की रचनाओं के लोकप्रसिद्ध हो जाने के बाद ही इनकी परम्परा आरम्भ हुई होगी। गाहा और पल्हाये शब्दों के रूप में प्राप्य भाषावैज्ञानिक साक्ष्य इस प्रकार के किसी भी अनुमान के विपरीत पड़ते हैं।

---

१ जनपद खंड २, पृ० ६०, जनवरी, १९५३

२ वही ७२

३ काला हिरण कोल्हू चले गोह गाडली देय।
बछवा बैठ गुड़ करै मेंढक झोकै देय रे ॥ मेरी बावली मल्होर ॥
—हरियाना प्रदेश का लोकसाहित्य २५७।

लोक, लोकवार्ता और लोकसाहित्य

लाकवार्ता उतनी ही पुरानी ह जितना कि लाक किन्तु एक स्वतत्र विषय के रूप में इसके अध्ययन का इतिहास दो शताब्दियो स अधिक पुराना नही ह। अठारहवी-उन्नीसवी शताब्दी के यूरोप के जिस सास्कृतिक परिवेश ने साहित्य में स्वच्छन्दतावाद और राजनीति म लोकतत्र को जन्म दिया, उसी ने लोकजीवन का विभिन्न अभिव्यक्तियो में अभिरुचि को भी। वह परिवेश विकासोन्मुख पूँजीवाद का था जिसन अभिजात मनुष्य के स्थान में सामान्य मनुष्य के महत्व की प्रस्तावना की और उसकी भावनाओ और कृतियो को आदर दिया। उसी समय सामान्य (गर-अभिजात) मनुष्यो की समष्टि के रूप में लोक की सकल्पना का विकास हुआ और वह (लाक) अकृत्रिमता और स्वाभाविकता का प्रतीक बन गया। इसी भूमिका में लोकवार्ता या लाकसाहित्य क प्रति रोमाटिक कवियो और दार्शनिको क बढते हुए आकर्षण को समझा जा सकता ह।

श्रेण्यतावादी काव्यशास्त्र सौन्दय और श्रेष्ठता के कुछ रूढ प्रतिमानो का स्वीकार कर चलता था और उनक अनुवतन पर बल देता था। लेकिन अब यह कहा जाने लगा कि कविता किन्ही पूव निर्धारित ढाँचो का अनुकरण न होकर आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति ह—वसी अभिव्यक्ति, जो अपनी स्वाभाविकता में स्वय प्रकृति का पर्याय बन जाती ह। रोमाटिक कवियो और दार्शनिको को यह आदर्श लाकसाहित्य में प्राप्त हुआ। हडर (१७४४ १८०३) में यह कहा कि लाकगीत प्रकृति की तरह ही स्वाभाविक ह और व मनुष्य की बुद्धि को नही, उसकी अनुभूतियो को व्यक्त करते ह। उसने विभिन्न देशो और जातियो के लोकगीतों का सकलन (१७७८) प्रकाशित किया जिसका गट और प्रकारान्तर स पूरे यूरोप क रोमाटिक आन्दोलन पर प्रभाव पडा। गटे के आरम्भिक गीत लोकगीतो की भावभूमि और लयविधान स प्रेरित ह। ब्रिटेन म लोकसाहित्य के प्रति बढता हुआ आकर्षण ही रावट बन्स (१७५९ ९६) के गीतो के रूप में व्यक्त होता ह।

किन्तु सामान्य मनुष्य के महत्त्व की धारणा पर आधारित लोकतन्त्र के विकास क इस युग म राष्ट्रवाद का भी विकास हुआ। शलिंग और हीगेल न मानव इतिहास को विभिन्न राष्ट्रो या जातियों द्वारा सम्पन्न क्रमिक विकास की भूमिका में देखा। उन्होंन 'राष्ट्रीय चेतना' की कल्पना की और जमन जाति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। स्वाभाविक ह कि जो जमन जाति उनके द्वारा

आगे आने वाले इतिहास की नियति मान ली गयी थी, उसकी धनना का व्यक्त करने वाला लोक साहित्य उनसे प्रेरित व्यक्तियों के लिए सम्मान का विषय बन गया। ग्रिम बन्धुओं ने बार-बार यह उल्लेख किया है कि उन्होंने 'राष्ट्रीय भावनाओं से परिचालित होकर ही जर्मन लोकवार्ता का संकलन और जर्मन भाषा का अध्ययन किया है। उन्होंने लोकवार्ता के माध्यम से अपनी संस्कृति की प्राचीनता समृद्धि और श्रेष्ठता का निरूपण किया। अन्य देशों में भी लोक वार्ता के प्रति यही दृष्टिकोण अपनाया गया और यह आज भी जीवित है।[१]

लेकिन लोकवार्ता के अध्ययन के प्रेरक कारणों की इस तालिका में एक और कारण का समावेश आवश्यक है। औद्योगीकरण के बाद परम्परागत ग्राम संस्कृति का विघटन आरम्भ हो गया और यह अनुभव किया जाने लगा कि यदि इसकी परम्पराओं को लिपिबद्ध नहीं कर लिया गया तो वे सदा के लिए विस्मृत हो जायेंगी। ऐथेनियम में प्रकाशित अपने ऐतिहासिक पत्र में डब्ल्यू० जे० टाम्स ने 'उस खेत में बिखरी हुई थोड़ी सी बालियों को इकट्ठा करने में इस पत्रिका की सहायता मांगी थी जिस (खेत) से हमारे पूर्वजों ने अच्छी फसल जमा की होगी।' हिन्दी में लोकसाहित्य के अध्ययन के प्रवर्तकों ने भी लोकगीतों, कथाओं आदि को तीव्रता से विस्मृत हो रही सामग्री के रूप में ही स्वीकार किया। सम्भवतः मशीनी संस्कृति के विकास से पूर्व लोक परम्पराओं के व्यवस्थित संकलन का केवल एक ही—स्वेडन के राजा गुस्तावुस (द्वितीय) का—उदाहरण मिलता है जिसने १६३० ई० में सामन्तों, पुरोहितों वकीलों नागरिकों और किसानों की परम्पराओं के संग्रह की योजना बनायी थी। उसने खान कृषि मछलीमारी, आखेट पशुपालन और वन-सम्बन्धी पेशों, शिल्पतथ्यों और विभिन्न प्रदेशों में निवास करने वाले लोगों की मानसिक विलक्षणताओं के अध्ययन पर भी बल दिया था। लेकिन अठारहवीं शताब्दी से पूर्व इस प्रकार के किसी भी प्रयत्न का अपवाद ही माना जा सकता है।

---

१ इसके प्रमाण के रूप में आर० एम० डारसन की ये पंक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं —समृद्धि के देश अमरीका के पास निश्चय ही अपनी लोकवार्ता की समृद्धि होनी चाहिए। अब विश्व भर में अपनी सर्वश्रेष्ठता के इस युग में अमरीकनों को गर्व के साथ अपनी लोकवार्ता की विरासत खोज करनी चाहिए × × × वस्तुतः संसार के इस सबसे महत्त्वपूर्ण राष्ट्र को अपने बच्चों को, अपनी लोकवार्ता के नायकों और पौराणिक कहानियों से परिचय कराना चाहिए।
—अमेरिकन फोकलोर १९५९ ३—४ शिकागो युनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो

लोकवार्ता के अध्ययन का श्रेय ब्रिटेन को नहीं है, किन्तु लोक परम्पराओं के समष्टिवाचक "फोकलोर" की रचना और प्रचलन का श्रेय उसे अवश्य प्राप्त है। डब्ल्यू० जे० टॉम्स द्वारा १८४६ ई० में रचा गया यह शब्द[1] मूल या अनूदित रूप में पूरे विश्व में फैल गया है। जर्मन, फ्रेंच, इटालियन, स्पेनी और रूसी में यह ध्वनि भेद से स्वीकार कर लिया गया है।[2] हिन्दी में इसके पर्याय 'लोकवार्ता' के प्रयोग का श्रेय डा० वासुदेवशरण अग्रवाल को है। हिन्दी में यह शब्द व्यापक स्वीकृति प्राप्त कर चुका है, यद्यपि समय-समय पर इसके नये नये पर्यायों की प्रस्तावना होती रही है। अन्य भारतीय भाषाओं में भी इसके पर्याय के सम्बन्ध में मतैक्य का अभाव दिखायी पड़ता है।[3]

लोकवार्ता या लोकसाहित्य के अध्ययन की दिशा में पर्याप्त प्रगति हुई है। इसके बावजूद इसके दोनों घटकों—लोक और वार्ता—की संकल्पना अब तक विवादास्पद बनी हुई है। अन्यथा कोई कारण नहीं कि इसके लिए कभी जन-साहित्य और कभी ग्रामसाहित्य शब्द का प्रयोग किया जाता।

जहाँ तक जनसाहित्य का सम्बन्ध है यह कहा जा सकता है कि वह जनता में लोकप्रिय या उसमें किन्हीं विशेष आदर्शों के प्रचार के लिए लिखे गए साहित्य

---

१ एमब्रोस मर्टन के छद्म नाम से १२ अगस्त १८४६ ई० को ऐथेनियम पत्रिका को लिखे गये जिस पत्र में इस शब्द का प्रयोग किया उसमें यह भी कहा कि 'मैं फोकलोर विशेषण के प्रवर्त्तन के श्रेय का दावा उसी प्रकार करता हूँ जिस प्रकार पितृभूमि (फादरलैण्ड) का इस देश के साहित्य में समावेश करने का दावा डिजरली का है।'

२ जर्मन (फोल्क्लारिश्टिश फोल्कलोर), फ्रेंच (फोल्कलार), इटालियन (फाल्कनार) स्पेनी (फोल्कलारिका, फाल्कलोरे) और रूसी (फोल्कलार)।

३ लोकविज्ञान, लोकश्रुति लोकचर्या लोकसंस्कृति, जनपदीय-साहित्य, जनसाहित्य इत्यादि।

४ हिन्दी में फोकलोर के लिए लोकवार्ता और फोकलिटरेचर के लिए लोक साहित्य का प्रयोग होता है किन्तु डी० जी० बोरस ने फोकलार के लिए लोक साहित्य और फोक लिटरेचर के लिए लोकवाङ्मय का प्रयोग किया है। (शंकर सेनगुप्त द्वारा सम्पादित स्टडीज इन इण्डियन कल्चर १५५) फोक्लोर के लिए डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने लोकयान शब्द की प्रस्तावना की है। उनके अनुसार महायान हीनयान वज्रयान देवयान आदि में यान जीवनयापन की विधि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और फोकलोर भी लोक की समस्त जीवन विधियों का

का पर्याय हो चुका ह। हिन्दी में लोकगीतो के प्रथम सकलनकर्ता और अध्येता श्री रामनरेश त्रिपाठी ने लोकसाहित्य के स्थान में "ग्रामसाहित्य" का प्रयोग अधिक उपयुक्त माना ह। अपने 'ग्रामसाहित्य' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने यह लिखा ह —

"मैंने गीतो का नामकरण ग्राम-गीत शब्द स किया ह क्योंकि गीत तो ग्राम ही की सपत्ति ह, शहरो में तो वे गए ह, जन्मे नही फिर गाँवों का यह गौरव उनसे क्या छीना जाय?" (जनपद १२ अक्टूबर, १९५२)। यह बात एक अश म सही मालूम होती ह। बढ़ते हुए औद्योगीकरण के इस युग में भी भारत गाँवों का ही देश ह। अब तक इसका बहुत सीमित भाग नगरों में निवास करता रहा ह। इसके अतिरिक्त यह भी सत्य ह कि यहाँ के नगरों की ओर ग्रामीण जनता का प्रवाह कभी रुका नही ह और उनमें बस जाने के बाद भी इसके बहुत बड भाग का नगरीकरण इतना सीमित या सतही रहा ह कि इसकी—और इस प्रकार यहाँ के नगरों के बहुत बडे भाग की—संस्कृति को बहुत दूर तक ग्राम संस्कृति कहना कहीं अधिक उपयुक्त ह। किन्तु वस्तुस्थिति का दूसरा पहलू—भी ह। कोई भी संस्कृति एकपक्षीय नही होती—वह अनेकानेक स्थानीय जातीय और धार्मिक संस्कृतियो के अन्तरावलम्बन से विकसित होती ह। जिसे लोकवार्ता या लोकसाहित्य कहा जाता ह, वह कोई एकाधिकृत और अछूत ग्रामीण सपत्ति नही ह। प्राचीन काल स ही ग्राम और नगरवासी समुदायो का अन्तरप्रवाह जारी ह। आक्रमणों और अशान्ति के युगो में नागर समुदाय गाँवो में बिखर गया ह और विभिन्न आर्थिक कारणो से ग्रामीणसमुदाय नगरो में बसता रहा ह। आवागमन और पारस्परिक सम्पर्क क कारण नागर और ग्राम संस्कृतियाँ परस्पर मिश्रित होती रही ह। ऐसी स्थिति म किसी ग्रामसाहित्य की कल्पना सगत प्रतीत नही होती।

इसका अर्थ यह भी होना है कि संस्कृति के निर्माण में—और लोकसाहित्य किसी भी देश की पूरी संस्कृति की अनेकानेक अभिव्यक्तियो म से एक ह—नगरों के योग की उपेक्षा नही की जा सकती। कभी भाषावैज्ञानिको ने नागर या संस्कृत भाषा के पार्श्ववर्ती क्षेत्रों में प्रसार की व्याख्या तरंग सिद्धान्त के आधार पर की थी। जल में उत्पन्न होने वाला तरंग या लहर अपने पार्श्ववर्ती क्षेत्र को प्रभावित करती और अपनी सचार क्षमता की सीमा तक क्रमश क्षीण होती हुई, पहुँचती है। इसी प्रकार संस्कृति क केन्द्र या केन्द्रो (नगरो या उपनगरों) की भाषा, अपने चारो ओर के गाँवो के भाषा रूपो को अपने वाहक माध्यमों की सचार-क्षमता की रिक्तता की सीमा तक प्रभावित करती ह। यह संस्कृतिमात्र और लोकवार्ता के सम्बन्ध में भी सत्य ह। नगरो के विश्वास,

उत्सव, शिष्टाचार कथा, गीत आदि उनके पार्श्ववर्ती ग्राम समुदायो म प्रसार पाते रहे ह और सामान्य संस्कृति के अग बनते रहे हं। हान्स नाउमान ने तो इस बात पर इतना अधिक बल दिया है कि उसने लोकवार्ता मात्र को उच्च या अभिजात परम्पराओ की अनुकृति घोषित कर दिया है। उसने १६२१ और १६२२ में प्रकाशित दो पुस्तको में इस सूत्र का विस्तार दिया है कि लोक (असम्कृत-समुदाय) में रचनात्मक क्षमता नहीं होती। लोक रचना नहीं करता वह तो अभिजात सामग्री का पुनरचना ही कर सकता है। उदाहरण के लिए, सामान्य जर्मन जनसमुदाय की पोशाक मध्ययुगीन जर्मन सामन्तो की वेशभूषा का ही अनुकरण ह। इसके एक अन्य प्रमाण के रूप में यह कहा जा सकता है कि भारत के गावो में पहना जाने वाली मिर्जई मिर्जा लोगो की पोशाक का ही लोक सस्करण ह। लोकवार्ता की सामग्री की व्याख्या के लिए नाउमान ने इसके दो उद्गमों का निर्देश किया है—वे ह अध सचित सांस्कृतिक मल्य (गेजुकेनेस कूल्टूर-गूट) और आदिम सामूहिक सस्कृति (डी प्रिमिटिफ गेमाईनशाफटसकूल्टर)। पहला वग उन अभिव्यक्तियो का ह जो समाज के स्तरीकरण या वर्गों म विभाजन से पहले की ह और दूसरा वग उन सांस्कृतिक रूपो का, जो शासक वर्गों की रचना ह और कालान्तर में जनता के निचले स्तरो तक पहुँच गय ह। सत्रहवी और अठारहवी सदियो के कवियो के गीत ही उन्नीसवी सदी में लोकगीतो में रूपान्तरित हो गय ह। इसी प्रकार मध्ययुग की वीर गाथाए चौदहवी पद्रहवी और सोलहवी सदियो के लोकगीतो म बदल गयी ह।

यह स्पष्टत अतिवादी धारणा है और लोकवार्ता की प्रकृति से अपरिचय को प्रकट करती ह किन्तु इससे यह संकेत तो मिलता ही ह कि ग्रामसाहित्य या ग्रामगीत एक अधूरा शब्द ह। वस्तुत हर सस्कृति के दो आयाम होते ह जिन्हें क्रमश छोटी परम्परा और बडी परम्परा' कहा जा सकता ह।[१] उनमें ये दोनो परम्पराएँ समानान्तर रूप में सक्रिय रहती ह और एक दूसरे को प्रभावित करती रहती ह। छोटी परम्परा स्थानीय वग विशेष तक सीमित या अपढ ग्राम समुदायो की होती ह। बडी परम्परा बहुमान्य और समाज के कुछ चिन्तनशील व्यक्तियो द्वारा विद्या-केन्द्रो या धर्म-पीठो में विकसित हुआ करती ह। निरन्तर

---

१ छोटी परम्परा (लिटल ट्रेडिशन) और बडा परम्परा (ग्रेट ट्रेडिशन) राबर्ट रेडफील्ड के शब्द ह। दे०-पैजेण्ट सोसायटी एण्ड कल्चर द्वितीय आवृत्ति १६६१ फोनिक्स बुक्स शिकागो।

भारतीय सदभ म बडी परम्परा के लिए एम० एन० श्रीनिवास ने सास्कृत परम्परा (सस्क्रिटिक ट्रेडिशन) का प्रयोग किया ह।

सम्पर्क और पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया के क्रम में बड़ी परम्परा छोटी परम्परा बन जाती है और छोटी परम्परा बड़ी परम्परा में बदल जाती है। वरुण-पूजा जो बड़ी परम्परा थी, आज एक समुदाय विशेष (सिन्धी समुदाय) तक सीमित होकर छोटी परम्परा में परिवर्तित हो गयी है और आर्येतर जातियों की शिवपूजा, जो छोटी परम्परा थी, वेदोत्तर काल में बड़ी परम्परा बन गयी है। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों की सामग्री रामकथा और महाभारत युद्ध की लोकगाथाओं से गृहीत हुई है जिसके साक्ष्य स्वयं इन रचनाओं में ही मिल जाते हैं। मुल्ला दाऊद के चन्दायन का मूल लोरिक-चन्दा की वह प्रसिद्ध गाथा है जो आज भी लोरिकायन के नाम से गायी जाती है। सूफी प्रबन्धकाव्यों का अध्ययन करने वाले आलोचकों ने यह परिलक्षित किया है कि उनकी वस्तु या तो मौखिक परम्परा की कहानियों से ली गयी है या उनके आधार पर कल्पित हुई है। इस प्रकार इन दो परम्पराओं को एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं माना जा सकता। अतएव लोकसाहित्य की सकल्पना जितनी सार्थक है, उतनी ग्राम साहित्य की नहीं।

इसका स्वाभाविक अनुलोम निष्कर्ष है कि कृषक-वर्ग या गाँवों और नगरों में रहनेवाला अल्प-संस्कृत अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित समुदाय ही लोक नहीं है। लोक क्षेत्र विशेष का पूरा जन-समुदाय है। यह विभिन्न सांस्कृतिक आर्थिक इकाइयों की वह समष्टि है जिसे समस्त जनता या समूचा जन-समुदाय कहा जाता है और जिसके अन्तर्गत शिक्षित और अशिक्षित तथा साधारण और असाधारण, सभी प्रकार के लोग आ जाते हैं। कुछ मानव वैज्ञानिकों ने लोक का अर्थ कृषक समुदाय माना है। अमरीका में कृषक समुदाय जैसा कोई समुदाय नहीं है लेकिन यह मानना किसी के लिए भी कठिन होगा कि अमरीका में लोकसाहित्य नहीं है। लोक की यह संकुचित परिभाषा स्वीकार करने पर यह भी कहना होगा कि आखेटजीवी और फलसंग्रही कबीले लोक नहीं हैं और उनका कोई लोकसाहित्य नहीं है। वस्तुतः जिस प्रकार कृषक समुदाय के लोकसाहित्य का उल्लेख किया जा सकता है उसी प्रकार इन कबीलों और (गैर आदिमजातीय संदर्भ में) विभिन्न पेशेवर वर्गों तथा जातियों के लोकसाहित्य का भी। यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि जो भी समुदाय एक लम्बी अवधि तक कायम रह कर अपनी अलग पहचान बना लेता है वह गुण या परिमाण की दृष्टि से अपेक्षाकृत स्वतन्त्र मौखिक परम्पराओं का भी विकास कर लेता है। अपने यहाँ दुसाधों, मल्लाहों और मुसहरों के अपने प्रबन्ध, अपने गीत और अपने लोकनायक हैं। यूरोप और अमरीका में खानमजदूरों और रेलमजदूरों के लोकसाहित्य का संकलन और प्रकाशन हुआ है, रूस में फैक्टरी और मिल मजदूरों के गीतों और गाथाओं

ना। शिक्षित समुदायों में भी वैसी कहानियां, प्रवाद, अनुश्रुतियाँ आदि प्रचलित रहता है जो शायद ही लिखी जाती है। वस्तुत मौखिक अभिव्यक्ति को लोक साहित्य या लोकवार्ता बनाने वाली वस्तु वह मूल्य है जो उसे बार-बार दुहराते रहने की प्रेरणा देता है।

इस प्रकार की छोटी या उप-सामुदायिक मौखिक परम्पराएँ ही किसी भी क्षेत्र के पूरे लोकसाहित्य की रचना करती है। पूरे लोकसाहित्य के सदर्भ में उनकी भूमिका पारस्परिक सहभाग की है। इस आधार पर विश्लिष्ट किये जाने पर लोक वसे समुदायों की सहति है जिनमें परस्पर सहभाग की स्थिति विद्यमान है।

लोक की सकल्पना की तरह वार्ता और साहित्य की सकल्पनाएँ भी विवादास्पद बनी हुई है।

इस प्रसग में सभी देशों में एक जसी स्थिति नहीं है। जर्मनी और स्कैंडिनविया में लोकवार्ता का अर्थ समस्त लोकसस्कृति है क्योंकि वहाँ इसके अन्तगत लोक की मौखिक और भौतिक, दोनों सास्कृतियो का अध्ययन होता है। उन देशों में लोकवार्ता में गृहप्रस्पों और गुड्डो से लेकर गीतों तक का समावेश मिलता है। किन्तु ब्रिटेन में इसे लोक की मौखिक परम्पराओ तक सीमित रखने का आग्रह किया जाने लगा है।[१] हिन्दी के वार्ता शब्द में ही यह सकेत विद्यमान है कि यह मौखिक परम्पराओ का अध्ययन है। मैं समझता हूँ कि हमें इस सकेत का लाभ उठाना चाहिए और इसकी व्याप्ति का परिसीमन कर इस विषय का पुनर्गठन करना चाहिए।

लोकवार्ता के क्षेत्र और व्याप्ति—दूसरे शब्दों में इसकी सकल्पना—के सम्बन्ध में विवाद का मुख्य कारण इसे लोकजीवन या लोकसस्कृति का पर्याय मान लेना है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह आवश्यक है कि दोनों में भेद किया जाय। लोकसस्कृति मात्र का अध्ययन जातिविज्ञान (एथनालॉजी) है। लोकवार्ता लोक सस्कृति का एक अश भर है—समूची लोकसस्कृति नही। इसकी सीमा में आने वाले विषय हैं—लोककथा लोकगीत, कहावतें पहेली, लोकनाटक मत्र अनुश्रुति आदि मौखिक साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ, न कि लोकचिकित्सा लोकनृत्य, लोकसगीत अनुष्ठान व्रत खान शिल्प विश्वास आदि। खान व्रत, अनुष्ठान और नृत्य से सम्बन्धित गीत और कथाएँ लोकवार्ता है, इनके विवरण और इन्ह

---

१ वार्ता भौतिक वस्तुओं से सम्बद्ध हो सकती है किन्तु यह स्वय भौतिक वस्तु नही है।

—सोना राजा बमटाइन फाकलोर १९५७ ३३५

सम्पन्न करने के नियम और निर्देश नहीं—भले ही वे लिखित न होकर अलिखित हैं और इस प्रकार लोक परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। यदि इनके विवरण और नियम निर्देश लोकवार्ता हैं तो क्या नहीं यह माना जाये कि 'दाल में अमुक अनुपात में नमक डालना चाहिए' भी लोकवार्ता है? यह ज्ञान भी मौखिक परम्परा का ही विषय है और विद्वान् भी यही कहते हैं कि लोकवार्ता मौखिक परम्परा है। लोकवार्ता निश्चय ही मौखिक परम्परा है किन्तु हर मौखिक परम्परा लोकवार्ता नहीं है।

हमारे सामने दो ही विकल्प हैं। या तो हम लोकवार्ता को लोकसंस्कृति और इस प्रकार जातिविज्ञान का पर्याय मान लें या इसे लोकसाहित्य स्वीकार करें। इसे लोकसंस्कृति के समस्त मौखिक भाग का अध्ययन मान लेने पर भी इसे जाति विज्ञान से अलग पहचान देना कठिन होगा। उचित तो यही है कि इसे लोक की साहित्यिक अभिव्यक्तियों तक ही सीमित माना जाये। बहुत सम्भव है कि लोकसाहित्य से इसके समरूप हो जाने पर एक स्वतंत्र शब्द के रूप में इसके प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं रह जाये, किन्तु ज्ञान के निरन्तर विभाजन और पुनर्विभाजन के इस युग में यह एक अनिवार्यता भी हो सकती है।

लोकवार्ता या लोकसाहित्य का विषय विशेष की सामग्री और उसके विज्ञान के दुहरे अर्थ में प्रयोग बहुत उचित नहीं है। पिछली शताब्दी में फोक्लोर का लोक की परम्पराओं और उनके विज्ञान—दोनों अर्थों में प्रयोग आरम्भ हुआ किन्तु इनका पार्थक्य सूचित करने के लिए दो भिन्न शब्दों का प्रयोग किया जाना चाहिए। वनस्पतियाँ वनस्पति विज्ञान नहीं हैं और न पृथ्वी भौमिकी है। मैं समझता हूँ कि इस विषय के विज्ञान को लोकसाहित्यिकी कहा जा सकता है (और यदि लोकसाहित्य के वैकल्पिक शब्द के रूप में लोकवार्ता का प्रयोग आवश्यक ही माना जाय तो लोकवार्तिकी भी।)

लोक और साहित्य (या वार्ता) के अभिप्रायों पर पृथक् पृथक् विचार करने पर लोकसाहित्य की जो सम्मिलित संकल्पना उभर कर सामने आती है, वह केवल यही है कि यह लोक का सामुदायिक मौखिक साहित्य है। इसके अन्य लक्षण अपरिहार्य न होकर सापेक्ष और किन्हीं उदाहरणों में वैकल्पिक हैं। ऐसे ही सापेक्ष लक्षण हैं इसका परम्परागत होना और इसे अज्ञात रचयिताओं की कृति मानना। कुछ अन्य लक्षण भी हैं जो संशोधित की अपेक्षा रखते हैं।

सामान्य रूप में लोकसाहित्य को परम्परागत मानना युक्तिसंगत है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसमें कुछ भी नया नहीं होता। केवल परम्परा या अतीत का विषय होने पर इसके लिए प्रवाह बना रहना सम्भव नहीं है। कभी इस बात पर बल दिया गया था कि यह अवशेषों का अध्ययन है और आधुनिक

युग में इसका विकास नहीं हो सकता। किन्तु यदि लोक साहित्य परम्परा है तो ऐसा, जिसका बदलती हुई परिस्थितियों के साथ नवीनीकरण होता गया है। इसके रूपान्तरण की प्रक्रिया के विश्लेषण में यह देखा गया है कि यह अपने हर प्रस्तुतीकरण में अपने वाचकों द्वारा परिवर्तित हो जाती है। इसमें होने वाले परिवर्तन काल के दोनों आयामों—अतीत और वर्तमान—का स्पर्श करते हैं। इतना ही नहीं, इसमें परम्परागत सामग्री के संशोधन और रूपान्तरण के अतिरिक्त एकदम नयी सामग्री का समावेश ही रहता है। जिसे 'विकासशील लोक साहित्य' कहा गया है वह किसी-न किसी सीमा तक हर युग का सत्य है। जिस अर्थ में परम्परागत सामग्री लोकसाहित्य है, उसी अर्थ में यह 'विकासशील लोक साहित्य' भी। यदि इन सामग्री का स्वीकार करते हुए इसे परम्परागत माना जाय तो कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए, क्योंकि अनुपात की दृष्टि से इसमें पहले से चली आती हुई सामग्री ही प्रमुख है।

शिष्टसाहित्य से इसके पार्थक्य को सूचित करने के लिए यह कहा गया है कि यह लिखित नहीं, अलिखित साहित्य है। क्या इसका अर्थ यह होता है कि लिख लेने पर लोकसाहित्य लोकसाहित्य नहीं रह जाता है? वाल्मीकि, व्यास और होमर ने जिन महाकाव्यों की रचना की वे मूलतः अलिखित थे। क्या उनकी रचनाएँ लोकसाहित्य हैं? क्या कबीर आदि सन्तों को साहित्य को इसलिए लोकसाहित्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि वह मूलतः अलिखित था? कौन-सी रचना लोकसाहित्य है और कौन-सी रचना शिष्टसाहित्य, इसका निर्णय केवल इस आधार पर ही नहीं किया जा सकता कि वह लिखित है या अलिखित।

क्या रचनाकारों का अज्ञात होना इसका विशिष्ट अर्थात् शिष्टसाहित्य से प्रभेदक लक्षण है? यदि इस बात को स्वीकार किया जाये—और इसे बार-बार स्वीकार भी किया जा चुका है—कि अज्ञात-नामतत्व इसकी अनिवार्य विशेषता है तो इसके इस अनुलोम को भी स्वीकार करना होगा कि रचनाकार का नाम ज्ञात हो जाने पर कोई लोकगीत, कहानी या पहेली लोकसाहित्य नहीं रह जाती।

सच तो यह है कि रचनाकारों का अज्ञात होना एक अशुद्ध संयोग है। अपनी कृतियों के साथ अपने नाम-संरक्षण के प्रति जागरूकता इतिहास में बहुत पुरानी नहीं है। हम आज भी शिष्टसाहित्य के बहुत-से कृतिकारों के नाम नहीं जानते। कभी यह विश्वास किया जाता था कि लोकसाहित्य का रचयिता पूरा समुदाय होता है और यह अपनी प्रकृति से ही निर्वैयक्तिक होता है लेकिन यह धारणा अस्वीकृत हो चुकी है। कभी ज्ञात रचनाकारों के लोक की मौखिक परम्परा में सम्मिलित हो गये साहित्य का 'लोकप्रचलित साहित्य' की अभिधा देकर उसे

अनात रचानाकारो के लोकसाहित्य से पथक करने का प्रस्ताव भी रखा गया था। किन्तु उन्नीसवी शताब्दी के अन्त से ही लोकसाहित्य के संकलनकर्त्ताओं को यह अनुभव होने लगा कि हर गीत या कहानी का कोई-न कोई रचनाकार होता ह। उन्हें ऐसे रचनाकारो के नाम भी ज्ञात हुए। उनमें से कुछ रचनाकार किसी अतीत में नहीं, वरन स्वय उनके जीवन काल में विद्यमान थे। रूस में ऐसे लोक-कवियो के नाम ज्ञात ह जो अभी जीवित ह और उनके गीत पूरे जन समुदाय की मौखिक परम्परा में सम्मिलित होते ह। उनके गीतो को गाने वाले बहुत-से लोग यह नही जानते कि वे किन व्यक्तियो की रचना ह। हिन्दी प्रदेश में भी खुसरो घाघ भड्डरी ईसुरी पतोला आदि के नाम ही नही उनके नाम पर प्रचलित रचनाएँ भी ज्ञात ह।

इतना ही नही लोकसाहित्य की जो परम्परागत सामग्री हमें प्राप्त होती ह वह किसी अरूप समूह के द्वारा नही वरन ऐसे व्यक्तियो के माध्यम से जो लोक परम्पराओ के सक्रिय वाहक होत ह अर्थात जो उनके निष्क्रिय वाचक या कथयिता मात्र नहीं ह।

वस्तुत लोकसाहित्य का केन्द्रीय लक्षण ह सामुदायिकता इसकी अपेक्षा म ही इसके अन्य लक्षण एक सकुल की रचना करते ह। यह सामुदायिकता या लोकबद्धता केवल अनुष्ठान और क्रियामूलक गीतो, शिक्षापरक कहावतो और कथाओ या मनोरजनात्मक पहेलियो, गाथाओ और कहानियो के रूप में ही नही दिखायी पडती, वरन् इस बात म भी कि लोक रचनाएँ मौन पाठ की अपेक्षा लोक के सदस्यो द्वारा या उनके बीच मुखर पाठ और प्रदर्शन के विषय ह। गाथाए, कहावतें गीत और पहेलियां गायक या वाचक द्वारा, सुनायी जाती ह इसलिए उनकी स्थिति में सदव एक दूसरा पक्ष—श्रोतापक्ष—बना रहता ह। वाचक और गायक अपने श्रोताओ की मन स्थिति और प्रतिक्रियाओ की अपेक्षा में इनके कुछ अशो का विस्तार देते और कुछ का सक्षेप करते जाते ह। उनका हर वाचन या गायन रचना का मात्र पुन प्रस्तुतीकरण न होकर उसका पुन सृजन हो जाता ह। इस अर्थ में लोकसाहित्य एक प्रकार का नाटक ह जिसका वाचक या गायक सदव अभिनेता की भूमिका में रहता है और अपने सामाजिक के दबाव का हर समय अनुभव करता ह। यह दबाव ही लोकसाहित्य की निरन्तर परिवर्तनशीलता की व्याख्या करता ह। ईसी स लोकसाहित्य जो व्यक्तियो की रचना ह व्यक्ति-रचनाकार स अलग हो जाने पर अपने मूल रूप में नही रह जाता। यह पूरे समुदाय का हो जाता ह और उसके सदस्यो द्वारा इस सीमा तक परिवर्तित हो जाता ह कि इसमें किसी खास व्यक्ति क व्यक्तित्व की छाप को नही ढूढा जा सकता। अपने काल और प्रसार क्षेत्र की विशालता के अनुपात

में हा यह ग्रपन रूपान्तरा की सख्या का विकास करता जाता है। ग्रनिश्चित पाठ, जो शिष्ट साहित्य की तुलना में इसकी सीमा ह, इसकी शक्ति ग्रौर जीवन का रहस्य भा ह। यही इस ग्रपने समुदाय के शिष्ट साहित्य की तुलना में ग्रधिक प्रतिनिधिक बनाता ह।

प्राय सभी देशा के ग्रालाचका ने कलासाहित्य ग्रौर लोकसाहित्य को एक दूसर के विलाम के रूप में देखा ह। उनकी दृष्टि में पहला कृत्रिम ह तो दूसरा सहज। लकिन लाकसाहित्य भी उतना ही रूढ ग्रौर कृत्रिम ह जितना कि शिष्ट या कलासाहित्य। दोना क समान रूप म सुनिश्चित पटन या ढाँचे हैं। यदि लाककथाग्रों ग्रौर गीतों का ग्रध्येता किसी पूर्वाग्रह स पीडित नही ह तो वह यह ग्रनुभव किये बिना नही रह सकता कि उनम ग्रावतक उपमाना उक्तिया, वणन-खण्डा, कथारूढियों ग्रादि का बाहुल्य ह ग्रौर सम्भवत यह भी कह सकता ह कि व शिष्ट साहित्य का इन्ही विधाग्रो की रचनाग्रों के उपमान ग्रादि की तुलना में कही ग्रधिक परम्परामुक्त ह। लाकसाहित्य का शिष्टसाहित्य से ग्रलग करन वाली वस्तु प्राकृतिक या सहज भावाभिव्यक्ति नही ह, क्याकि यदि लाकसाहित्य का रचयिता ग्रौर उसकी कृति के वाचक प्रबुद्ध ह तो व ग्रपनी सीमा में कम रचाव ग्रौर कलात्मकता का परिचय नही देते।

अज्ञात रचनाकारों में लोकसाहित्य से पृथक करने का प्रस्ताव भी रखा गया था। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से ही लोकसाहित्य के संकलनकर्ताओं को यह अनुभव होने लगा कि हर गीत या कहानी का कोई-न-कोई रचनाकार होता है। उन्हें ऐसे रचनाकारों के नाम भी ज्ञात हुए। उनमें से कुछ रचनाकार किसी अतीत में नहीं, वरन् स्वयं उनके जीवन काल में विद्यमान थे। रूस में ऐसे लोक-कवियों के नाम ज्ञात हैं जो अभी जीवित हैं और उनके गीत पूरे जन समुदाय की मौखिक परम्परा में सम्मिलित होते हैं। उनके गीतों को गाने वाले बहुत-से लोग यह नहीं जानते कि वे किन व्यक्तियों की रचना हैं। हिन्दी प्रदेश में भी खुसरो घाघ भड्डरी ईसुरी पनोला आदि के नाम ही नहीं, उनके नाम पर प्रचलित रचनाएँ भी ज्ञात हैं।

इतना ही नहीं लोकसाहित्य की जो परम्परागत सामग्री हमें प्राप्त होती है वह किसी अरूप समूह के द्वारा नहीं, वरन् वैसे व्यक्तियों के माध्यम से, जो लोक परम्पराओं के सक्रिय वाहक होते हैं अर्थात् जो उनके निष्क्रिय वाचक या कथयिता मात्र नहीं हैं।

वस्तुतः लोकसाहित्य का केन्द्रीय लक्षण है सामुदायिकता इसकी अपेक्षा में ही इसके अन्य लक्षण एक संकुल की रचना करते हैं। यह सामुदायिकता या लोकबद्धता केवल अनुष्ठान और क्रियामूलक गीतों, शिक्षापरक कहावतों और कथाओं या मनोरंजनात्मक पहेलियों गाथाओं और कहानियों के रूप में ही नहीं दिखायी पड़ती, वरन् इस बात में भी कि लोक रचनाएँ मौन पाठ की अपेक्षा लोक के सदस्यों द्वारा या उनके बीच मुखर पाठ और प्रदर्शन के विषय हैं। गाथाएँ, कहावतें गीत और पहेलियाँ गायक या वाचक द्वारा, सुनायी जाती हैं इसलिए उनकी स्थिति में सदैव एक दूसरा पक्ष—श्रोतापक्ष—बना रहता है। वाचक और गायक अपने श्रोताओं की मनःस्थिति और प्रतिक्रियाओं की अपेक्षा में इनके कुछ अंशों का विस्तार देते और कुछ का संक्षेप करते जाते हैं। उनका हर वाचन या गायन रचना का मात्र पुनः प्रस्तुतीकरण न होकर उसका पुनः सृजन हो जाता है। इस अर्थ में लोकसाहित्य एक प्रकार का नाटक है जिसका वाचक या गायक सदैव अभिनेता की भूमिका में रहता है और अपने सामाजिक के दबाव का हर समय अनुभव करता है। यह दबाव ही लोकसाहित्य की निरन्तर परिवर्तनशीलता की व्याख्या करता है। इसी से लोकसाहित्य, जो व्यक्तियों की रचना है व्यक्ति-रचनाकार से अलग हो जाने पर अपने मूल रूप में नहीं रह जाता। यह पूरे समुदाय का हो जाता है और उसके सदस्यों द्वारा इस सीमा तक परिवर्तित हो जाता है कि इसमें किसी खास व्यक्ति के व्यक्तित्व की छाप को नहीं ढूँढा जा सकता। अपने काल और प्रसार क्षेत्र की विशालता के अनुपात

में हा यह अपन रूपान्तरों की सख्या का विकास करता जाता है। अनिश्चित पाठ जा शिष्ट साहित्य की तुलना में इसका सीमा ह, इसकी शक्ति और जीवन का रहस्य भा ह। यहा इस अपने समुदाय के शिष्ट साहित्य की तुलना म अधिक प्रातिनिधिक बनाता ह।

प्राय सभी देशों के आलाचका ने कलासाहित्य और लोकसाहित्य को एक दूसर क विलोम के रूप में देखा ह। उनकी दृष्टि म पहला कृत्रिम ह तो दूसरा सहज। लकिन लोकसाहित्य भा उतना ही रूढ और कृत्रिम है जितना कि शिष्ट या कलासाहित्य। दानों के समान रूप में सुनिश्चित पैटन या ढांचे ह। यदि लाककथाओं और गीतों का अध्येता किसा पूर्वाग्रह स पीडित नही ह तो वह यह अनुभव किय बिना नही रह सकता कि उनमें आवतक उपमाना, उक्तियो, वणन-खण्डों, कथारूढियों आदि का बाहुल्य ह और सम्भवत यह भी कह सकता ह कि व शिष्ट साहित्य की इन्हो विधाओं की रचनाओ के उपमान आदि की तुलना में कही अधिक परम्परामुक्त ह। लाकसाहित्य का शिष्टसाहित्य से अलग करने वाली वस्तु प्राकृतिक या सहज भावाभिव्यक्ति नही ह, क्योकि यदि लोकसाहित्य का रचयिता और उसकी कृति के वाचक प्रबुद्ध ह ता वे अपनी सीमा में कम रचाव और कलात्मकता का परिचय नही देते।

अनुक्रमणिका

(लेखकों और प्राचीन ग्रन्थों के नामों की)

[(१) नामों के बाद मुद्रित संख्या पुस्तक की पृष्ठ-संख्या सूचित करती है।

(२) प्राचीन ग्रन्थों के नाम मोटे टाइप में मुद्रित हैं।]

अनुक्रमणिका

(लेखकों और प्राचीन ग्रन्थों के नामों की)

[(१) नामों के बाद मुद्रित संख्या पुस्तक की पृष्ठ-संख्या सूचित करती है।

(२) प्राचीन ग्रन्थों के नाम मोटे टाइप में मुद्रित हैं।]

अनुक्रमणिका

(लेखकों और प्राचीन ग्रन्थों के नामों की)

[(१) नामों के बाद मुद्रित संख्या पुस्तक की पृष्ठ-संख्या सूचित करती है।

(२) प्राचीन ग्रन्थों के नाम मोटे टाइप में मुद्रित हैं।]